प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, काशी

तीसरी बार १०,०००
अगस्त, १९५५
मूल्य : चार आना

यज्ञ

•

"कायिक श्रम के मनुष्यमात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टॉल्स्टॉय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही उस पर मैं अमल करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शाब्दिक अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है। यह मूल खोज टॉल्स्टॉय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टॉल्स्टॉय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आँखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो, हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबल कहती है, "अपनी रोटी अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।"

—महात्मा गांधी

अनुक्रमणिका

◆

सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र

सर्वोदय का इतिहास : १ :

'सर्वोदय' में किसी मंत्र के समान लोगों को सम्मोहित करने की शक्ति का सचार हो रहा है। लोकशाही, समाजवाद, साम्यवाद आदि शब्दों की तरह 'सर्वोदय' का सीधा और सरल अर्थ है 'सबका उदय'— 'सबका विकास' अर्थात 'सबका हित'। "अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख" वाला तत्वज्ञान सर्वोदय स्वीकार नहीं करता। हमारी संस्कृति मे मनुष्य को सब भूतों के हित में रत रहना चाहिए— "सर्वभूतहिते रताः"। एक मनुष्य का हित दूसरे मनुष्य के हित के खिलाफ नहीं हो सकता, सबका हित एक-दूसरे के हित के अनुकूल ही हो सकता है, यह सर्वोदय का विचार है। जंगल में एक पशु के हित के लिए दूसरे पशु की हानि होती है, क्योंकि एक को खाकर ही दूसरा जिंदा रह सकता है। लेकिन एक का हित दूसरे के हित से जुड़ा हुआ है—इस प्रकार की मानव-समाज की रचना हो सकती है और होनी चाहिए। वर्तमान समाज में पारस्परिक हितों में विरोध निर्माण होता है। इसका कारण यह है कि समाज की रचना ही गलत है। सर्वोदय-समाज में एक का हित दूसरे के हित का पूरक ही रहेगा। सर्वोदय-

समाज की आधारशिला कौटुंबिक या पारिवारिक भावना है। परिवार के लोग ऐसा मानते हैं कि सबका हित ही हमारा हित है, पारस्परिक हित में वे विरोध नहीं मानते। इसलिए जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक व्यक्ति परिवार के समस्त व्यक्तियों के सुख या कल्याण का विचार करता है और तदनुसार बर्ताव करता है, उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को, विचार-भेद होने पर भी, सबके सुख और हित का विचार करके वैसा ही वर्ताव करना चाहिए। यही सर्वोदय की सीख है।

मनुष्य-मनुष्य के बीच जो विरोध पैदा होता है, उसका कारण यह है कि बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं कि धन आदि जो भौतिक संपत्ति है, उसीमें हमारा सारा सुख संचित है और इसी कारण पड़ोसी के हित-अनहित का विचार न करते हुए उस भौतिक संपत्ति का संग्रह करने में मग्न होते हैं। इतना ही नहीं, उसकी प्राप्ति के लिए पड़ोसी से लड़ने-झगड़ने को भी तैयार रहते हैं। सच कहा जाय तो जिस ईश्वर ने हम सबको पैदा किया है, उसीने अपनी संपूर्ण संपत्ति सहित इस विश्व का निर्माण किया है। इसलिए उस पर सबका समान अधिकार है, यह समझकर मनुष्य को इस संपत्ति का सबके लिए सदुपयोग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, हम सभी का अनुभव है कि केवल धन से मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं होती। इसका कारण यह है कि "मनुष्य के जैसे शरीर है, वैसे ही उसके मन, बुद्धि और आत्मा भी है।" इसलिए केवल शारीरिक सुख ही मनुष्य का सच्चा सुख नहीं हो सकता अथवा उससे उसे सच्ची शांति भी नहीं मिल सकती। मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से पूछा था कि "जो

संपत्ति आप मुझे विभाजित करके दे रहे हैं, उस संपत्ति से क्या मुझे सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा ?" उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि "ऐसी संपत्ति से संपन्न लोगों को जिस प्रकार का और जिस प्रमाण में सुख मिलता है, वैसा ही तुझे भी मिलेगा। संपत्ति से अमृतत्व प्राप्त होने की आशा कोई न करे।" इस पर मैत्रेयी ने पति से कहा, "मुझे शाश्वत सुख प्राप्त करा देनेवाला अमृतत्व ही चाहिए, यह संपत्ति नहीं चाहिए। आप अमृतत्व प्राप्त करा देने-वाली ब्रह्म-विद्या मुझे दें।"

शाश्वत सुख की जो लालसा मनुष्य में रहती है, उसका कारण, उसका मूल इसी अमृतत्व में रहता है। इसलिए जब तक उसे अमृतत्व यानी आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, तब तक केवल शारीरिक सुख से उसके सच्चे सुख की भूख नहीं मिटती। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के सुख का या उदय का हेतु केवल शारीरिक सुख की या भौतिक संपत्ति की प्राप्ति ही नहीं, बल्कि आत्मिक सुख की और उन्नति की प्राप्ति ही उसका सत्य अर्थ है।

'सर्वोदय' पुस्तक की भूमिका में गांधीजी लिखते हैं : "पश्चिम के देशों में साधारणतः यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख—उनका अभ्युदय बढ़ाना मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दुःख पहुँचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते।

इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं। किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है और केवल इतने ही के लिए यत्न करे और उसमें नैतिक नियमों का भग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है।"

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व 'स्वराज्य' शब्द से लोगों को जो प्रेरणा मिलती थी, वही आज 'सर्वोदय' शब्द से मिल रही है। शब्द की अथवा मंत्र की महिमा अगाध है। समाज के सामने जब ऐसा एकाध महान् शब्द या मंत्र होता है, तब उससे समाज को शक्ति प्राप्त होती है। जिस समाज के सामने शब्द या मत्र नहीं होता, वह समाज शक्ति-विहीन और श्रद्धा-विहीन बन जाता है। इसका अनुभव समस्त देशों के लोगों को सब युगों में हुआ है। भारत में चालीस वर्ष तक 'स्वराज्य' शब्द की महिमा रही। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद परिस्थिति का पोषक दूसरा शब्द भारत को न मिलने के कारण, थोड़े समय के लिए, भारत की स्थिति दयनीय हो गयी थी; लेकिन शीघ्र ही देश को 'सर्वोदय' शब्द मिल गया। सर्वोदय का आदर्श हमारे लिए नया नहीं है। बल्कि यह 'शब्द' भी प्राचीन है। दो हजार वर्ष पूर्व के जैनाचार्य समंतभद्र ने 'सर्वोदय-तीर्थ' की भावना व्यक्त की है :

सर्वापदामतकरं निरंतं सर्वोदय-तीर्थमिदं तवैव।

गीता में 'सर्वभूतहिते रता.' यह योगी और भक्त का एक मुख्य लक्षण कहा गया है। ससार के समस्त धर्म-संस्थापकों ने और संतों ने इस आदर्श को सर्वश्रेष्ठ माना है।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु । सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु । मा कश्चिन् दुःखमाप्नुयान् ॥

ऋषियों की यह प्रार्थना सैकड़ो-हजारों वर्ष पुरानी है। परंतु आज जिस अर्थ में 'सर्वोदय' शब्द लोगों के लिए प्रचंड प्रेरक शक्ति बन गया है, उस अर्थ में उसका सर्वप्रथम उपयोग गांधीजी ने ही किया। रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक का उन्होंने गुजराती में जो संक्षिप्त अनुवाद किया, उसका उन्होंने 'सर्वोदय' नाम रखा। गांधीजी अपनी भूमिका में लिखते हैं: "रस्किन की इस पुस्तक का मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है। केवल सार दिया है। प्रत्येक शब्द का अनुवाद किया जाता तो यह सम्भव था कि बाइबल आदि ग्रंथों के कितने ही दृष्टांत पाठकों की समझ में न आते। मूल अंग्रेजी पुस्तक के नाम का भी शब्दशः अनुवाद नहीं किया है; क्योंकि उसका भी अर्थ केवल वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबल पढ़ी है। और इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का ही है, अतः मैंने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।"

दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए रस्किन की 'Unto this last' पुस्तक गांधीजी ने पढ़ी और उसका उन पर इतना असर हुआ कि उन्होंने उस पुस्तक में बताये गये तत्वानुसार अपने नवीन जीवन की वहीं से शुरुआत की। किन्तु उन्होंने भारत में या दक्षिण अफ्रीका में 'सर्वोदय' के आदर्श का या जीवन-पद्धति का प्रचार प्रत्यक्ष 'सर्वोदय' के नाम से नहीं किया। जब उनसे लोग पूछते कि 'आप जिस स्वराज्य के लिए आन्दोलन करते हैं, वह स्वराज्य कौन-सा है?' तब गांधीजी उत्तर में कहते: 'प्रातिनिधिक जनतंत्रात्मक स्वराज्य।'

फिर भी जिस प्रकार आकाश का कोई भी हिस्सा खाली नहीं रहता, उसी प्रकार वे यदि सतत 'सर्वोदय' का नाम न रटते रहे हों, तो भी उनके सारे कार्यकलापो का लक्ष्य 'सर्वोदय' ही था। इस बारे में भारतीय जनता के मन में रचमात्र भी सदेह नहीं है।

इसीलिए गांधीजी की अमानुषिक हत्या के पश्चात् उनके ध्येय और कार्य को आगे कैसे चलाया जाय, इसका विचार करने के लिए सेवाग्राम में एकत्र हुए उनके स्नेही, सहयोगी और अनुयायी लोगों ने इस कार्य के लिए जो सस्था स्थापित की, उसका नाम 'सर्वोदय-समाज' ही रखा। अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्ग-विहीन और जाति-विहीन तथा जिसमें किसीका कोई भी शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपना सर्वाङ्गीण विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सकते हैं, ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदय-समाज का साध्य है। ऐसा समाज प्रेम या अहिंसा से ही प्रस्थापित हो सकता है, यह स्पष्ट है। "सर्वभूतहिते रता" पर भाष्य करते हुए आद्य श्री शकराचार्य लिखते हैं: "सर्वेषां भूतानां हिते आनुकूल्ये रताः—अहिंसकाः इत्यर्थः" : अर्थात् 'जो सर्वभूतों के हित में रत है, सर्व प्राणियों की अनुकूलता में मग्न है, यानी जो किसी की भी हिंसा नहीं करता।' गाधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ऐसे समाज की स्थापना का ही कार्यक्रम है, क्योंकि रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का या अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप ही है। गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में जनता का सपूर्ण तेज जाग्रत करके, उसे कार्यान्वित करने की शक्ति मौजूद है। जहाँ सत्य और अहिंसा से काम करना है, वहाँ शुद्ध साधनों का

आग्रह रहना बिल्कुल स्वाभाविक है। सर्वोदय में साध्य और साधन का अभेद है। उनमे किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। बीज और वृक्ष में जो अनुल्लङ्घनीय स्वाभाविक संबंध है, वही सर्वोदय के साध्य और साधन में है।

'सर्वोदय' एक महान् विचार है, इसलिए 'सर्वोदय-समाज' एक संस्था होने पर भी अत्यन्त मुक्त संस्था है: अन्य सर्वसाधारण संस्थाओं की तरह वह अपने सेवकों पर अनुशासन नहीं चलाती या उनका नियंत्रण भी नहीं करती। कारण, जहाँ प्रेम है, वहाँ शासन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। गांधीजी के जीवन-तत्वों पर यानी सत्य और अहिंसा पर तथा उनके कार्यों पर श्रद्धा है और तदनुसार अपने जीवन में भी उन्हें उतारने का प्रामाणिक प्रयत्न हम कर रहे हैं, ऐसा जिसको प्रतीत होता है, वह इस समाज का 'सेवक' हो सकता है। सत्य और अहिंसा के ध्येय को लेकर समाज-सेवा या समाज-रचना का कोई भी काम सेवक अकेला या हमराय रखनेवाले लोगों के साथ कर सकता है और उसके लिए सेवक आवश्यक संगठन भी कर सकता है। हाँ, इन कामों के लिए वह 'सर्वोदय-समाज' का उपयोग नहीं कर सकता। 'सर्वोदय-समाज' एक 'विचार-मंडल' होने के कारण यह समाज अपनी ओर से ऐसा कोई काम नहीं करता।

ये सारे सेवक साल भर में एक बार किसी जगह जमा होते हैं और वर्ष भर में किये हुए कामों का और अनुभवों का आपस में लेन-देन करते हैं और आगामी वर्ष के कार्यों का विचार करते हैं।

'सर्वोदय-समाज' के सम्मेलनों में कोई भी प्रस्ताव पास नहीं किये जाते।

फिर भी जिस प्रकार आकाश का कोई भी हिस्सा खाली नहीं रहता, उसी प्रकार वे यदि सतत 'सर्वोदय' का नाम न रटते रहे हों, तो भी उनके सारे कार्यकलापों का लक्ष्य 'सर्वोदय' ही था। इस बारे में भारतीय जनता के मन में रंचमात्र भी संदेह नहीं है।

इसीलिए गांधीजी की अमानुषिक हत्या के पश्चात् उनके ध्येय और कार्य को आगे कैसे चलाया जाय, इसका विचार करने के लिए सेवाग्राम में एकत्र हुए उनके स्नेही, सहयोगी और अनुयायी लोगों ने इस कार्य के लिए जो संस्था स्थापित की, उसका नाम 'सर्वोदय-समाज' ही रखा। अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्ग-विहीन और जाति-विहीन तथा जिसमें किसीका कोई भी शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपना सर्वाङ्गीण विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सकते हैं, ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदय-समाज का साध्य है। ऐसा समाज प्रेम या अहिंसा से ही प्रस्थापित हो सकता है, यह स्पष्ट है। "सर्वभूतहिते रता:" पर भाष्य करते हुए आद्य श्री शंकराचार्य लिखते हैं: "सर्वेषां भूतानां हिते आनुकूल्ये रता:—अहिंसका: इत्यर्थ:": अर्थात् 'जो सर्वभूतों के हित में रत हैं, सर्व प्राणियों की अनुकूलता में मग्न हैं, यानी जो किसी की भी हिंसा नहीं करता।' गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ऐसे समाज की स्थापना का ही कार्यक्रम है, क्योंकि रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का या अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप ही है। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में जनता का संपूर्ण तेज जाग्रत करके, उसे कार्यान्वित करने की शक्ति मौजूद है। जहाँ सत्य और अहिंसा से काम करना है, वहाँ शुद्ध साधनों का

रस्किन की भूमिका : २ :

रस्किन ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है :

"इन चार निबंधों के लिखने में मेरा पहला उद्देश्य यह है संपत्ति की व्याख्या तर्कपूर्ण और विशुद्ध की जाय और दूसरा यह विशेष नीति-नियमों का पालन करते हुए धन कमाना संभव है, स्पष्ट किया जाय। इन नीति-नियमों में से मुख्य नियम ईमानदारी प्रति श्रद्धा रखना है। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि ईमानद एक गुण है और वह ईमानदार रहकर अपना काम कर सकेगा। क जाता है कि ईमानदारी कोई सर्वोच्च गुण नहीं है। इसमे तथ्य लेकिन आज ऐसी हालत हो गयी है कि यह गुण भी कम ही दिख देने लगा है। जब तक ईमानदारी को जीवन में स्थान नहीं दि जायगा तब तक आपसी बर्ताव में निर्मलता नहीं आयेगी, न उस लाभ की आशा ही रखी जा सकती है। अन्य गुणों के प्राप्त करने बात तो बहुत दूर की है। समाज में ईमानदार व्यक्तियों की संख जिस परिमाण में रहेगी, उसी परिमाण में समाज का जीवन चेतन पूर्ण तथा उन्नत होगा। उद्योगपति और व्यापारी ईमानदारी से क करेंगे तो मजदूरों के संगठन की समस्या तत्काल हल हो जायगी।

डॉक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं, उत ही सेवा फावड़ा-कुदाली लेकर मेहनत करनेवाला मजदूर भी करता इसलिए सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह देश के हरएक युव और युवती को ऐसी शिक्षा दे, जिसमें औद्योगिक शिक्षा की व्यवस रहे और वह हरएक की मदद करे।"

• •

गांधीजी के आदर्श से जिन्हें प्रेरणा मिली थी और जिन्होंने उनके नेतृत्व में काम किया था, उन सारे कार्यकर्ताओं ने ३० जनवरी, १९५० के दिन एक आर्थिक योजना प्रकाशित की। उसका नाम भी उन्होंने 'सर्वोदय-योजना' ही रखा।

गांधीजी का पहला श्राद्ध-दिवस 'सर्वोदय-दिवस' के रूप में मनाया जाय, ऐसा आदेश कांग्रेस ने देश को दिया।

सद्भावना या सज्जनता मनुष्य में जन्मजात होती है। मनुष्य कितना ही पतित हो जाय, तो भी उसके साथ सद्भावना से अथवा साधुता से व्यवहार किया जाय, तो उसका उद्धार हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए सबके साथ सज्जनता का व्यवहार किया जाय और सबके कल्याण के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया जाय, यह सर्वोदय की श्रद्धा है।

रस्किन की जिस पुस्तक से गांधीजी के जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ, उस 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक का सार आगे के पृष्ठों में हम देखें।

◆ ◆ ◆

रस्किन की भूमिका

रस्किन ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है :

"इन चार निबंधों के लिखने में मेरा पहला उद्देश्य यह है कि संपत्ति की व्याख्या तर्कपूर्ण और विशुद्ध की जाय और दूसरा यह कि विशेष नीति-नियमों का पालन करते हुए धन कमाना संभव है, यह स्पष्ट किया जाय। इन नीति-नियमों में से मुख्य नियम ईमानदारी के प्रति श्रद्धा रखना है। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि ईमानदारी एक गुण है और वह ईमानदार रहकर अपना काम कर सकेगा। कहा जाता है कि ईमानदारी कोई सर्वोच्च गुण नहीं है। इसमें तथ्य है; लेकिन आज ऐसी हालत हो गयी है कि यह गुण भी कम ही दिखाई देने लगा है। जब तक ईमानदारी को जीवन में स्थान नहीं दिया जायगा तब तक आपसी बर्ताव में निर्मलता नहीं आयेगी, न उससे लाभ की आशा ही रखी जा सकती है। अन्य गुणों के प्राप्त करने की बात तो बहुत दूर की है। समाज में ईमानदार व्यक्तियों की संख्या जिस परिमाण में रहेगी, उसी परिमाण में समाज का जीवन चेतनापूर्ण तथा उन्नत होगा। उद्योगपति और व्यापारी ईमानदारी से कार्य करेंगे तो मजदूरों के संगठन की समस्या तत्काल हल हो जायगी।

डॉक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं, उतनी ही सेवा फावडा-कुदाली लेकर मेहनत करनेवाला मजदूर भी करता है, इसलिए सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह देश के हरएक युवक और युवती को ऐसी शिक्षा दे, जिसमें औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था रहे और वह हरएक की मदद करे।"

• • •

सम्मान का मूल : ३ :

सद्भावना और सहानुभूति

प्रेम तथा उससे उत्पन्न होनेवाली सद्भावना या सहानुभूति मनुष्य में स्थायी रूप से रहती है। ये उसके मूल अथवा स्थायी भाव हैं। मनुष्य के साथ बर्ताव करते समय स्नेह तथा सहानुभूति से काम लिया जाय, तो उसकी आंतरिक शक्तियों एवं गुणों का सुन्दर विकास होगा और वे उसके व्यवहार में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होंगे। मनुष्य को सिर्फ रक्त-मास का पुतला मानकर उसके साथ बर्ताव करना गलत है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि ऐसा समझनेवाले लोग गलत राह पर हैं। मनुष्य में आत्मा है, जिसकी शक्ति अनंत है। उसके शारीरिक धर्म और कर्म पर इस आत्मशक्ति का अखंड प्रभाव पड़ता रहता है। जिस शास्त्र में इस वास्तविकता का विचार नहीं किया जाता, वह शास्त्र व्यक्ति अथवा समूहों के बीच होनेवाले व्यवहार का नियमन करने या अनुमान लगाने में असमर्थ होता है। आत्मशक्ति अनन्त होती है। किसी विशेष अवस्था में ही मनुष्य द्वारा होनेवाले व्यवहार को देखकर आत्मशक्ति का प्रभाव आजमाना सभव होने पर भी उसके बारे में कोई निश्चित

मत प्रकट नहीं किया जा सकता। इसलिए मनुष्यों के हित-संबंध परस्पर विरोधी हों, तो भी इससे यह नहीं सिद्ध होता कि काल-स्थिति के अनुसार उनके बीच अखंड शत्रुता या संघर्ष चलता रहे, क्योंकि केवल स्वार्थ ही मनुष्य के कर्म की एकमात्र प्रेरक शक्ति नहीं है। मनुष्य जो काम करता है, उसके मूल में अनेकानेक उद्देश्य और भाव हुआ करते हैं। इस कारण किसी विशेष बर्ताव का स्वयं उस पर या अन्य लोगों पर अंतिम परिणाम क्या होगा, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी श्रेय और प्रेय, न्याय और अन्याय के अंतर को जानना हरएक के लिए संभव है। इसे अधिकतर लोग समझते भी हैं। अच्छी बातों का नतीजा अच्छा ही निकलेगा, यह जानने की बुद्धि मनुष्य में अवश्य है। अतः यह मानकर कि सद्भावना के अभाव में उचित व न्याय-पूर्ण व्यवहार असंभव होगा, एक-दूसरे के प्रति सद्भाव रखना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। मनुष्य के साथ सद्भावना से प्रेरित होकर बर्ताव किया जाय तो उसकी आत्मशक्ति जाग्रत होती है और वह अन-पेक्षित साहस तथा विलक्षण कार्य-क्षमता दिखाता है। स्वार्थ की दृष्टि से विचार करने पर भी बुद्धिमानी इसीमें है कि मनुष्य, मनुष्य के साथ स्नेह का बर्ताव करे। केवल स्वार्थी बनकर सद्भावना का प्रद-र्शन किया गया तो विपरीत परिणाम होगा और निराशा की संभावना अधिक रहेगी या उसका होना अवश्यंभावी ही है। लोग ऐसा मान-कर अपना काम करने लग जायें कि व्यवस्थित एवं न्यायपूर्ण सद्-व्यवहार के मूल में सद्भाव की ही आवश्यकता होती है, तो उनका स्वार्थ निःसन्देह पूरा होगा; लेकिन यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मूल में स्वार्थ की प्रेरणा न रहे।

खेती और उद्योग जैसे अर्थोत्पादन के क्षेत्रों को छोड़कर अन्य क्षेत्रों के बारे में हम मानते हैं कि वहाँ मनुष्यों के आपसी व्यवहार में प्रेम और सद्भाव रहता है, इसलिए इन क्षेत्रों में काम करनेवाले लोगों के प्रति हम सम्मान की भावना रखते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं समझा जाता कि धनोपार्जन इनका उद्देश्य नहीं रहता या वह न होना चाहिए। ऐसे क्षेत्रों में काम करनेवाले लोगों का प्रधान उद्देश्य धन कमाना नहीं होना चाहिए। कम-से-कम हम ऐसा ही समझते हैं। इन व्यवसायों का प्रधान उद्देश्य समाज की उपयोगिता है, और वह रहे, ऐसा हम समझते भी हैं। धन का उपार्जन गौण बात है।

यहाँ धनोपार्जन का विचार केवल इसीलिए रहता है कि व्यवसाय अच्छी तरह चालू रखने के लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है। यहाँ सामाजिक उपयोगिता-प्रधान धनोपार्जन गौण होने से हम मानते आये हैं कि इनका आधार त्यागवृत्ति होनी चाहिए। हमें कई बार वैसा अनुभव भी हुआ है। हम देखते हैं कि फौज का सिपाही आवश्यकता पड़ने पर अपनी जान देकर भी लोगों की रक्षा करता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र की मान्यता

आधुनिक अर्थशास्त्र यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि अर्थोत्पादन के क्षेत्र में काम करनेवालों का प्रधान उद्देश्य सिर्फ धन कमाना है। परिणामत इसके प्रतिपादन का विषय यही बन जाता है कि व्यवसाय के मूल में स्वार्थभावना ही प्रमुख है। यहाँ सद्भावना या सहानुभूति की आवश्यकता नहीं। इससे प्रेरित होकर काम करनेवाले

व्यक्ति का नुकसान हुए बगैर नहीं रहेगा, यह इस शास्त्र का दृष्टिकोण है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले लोग सामान्य तौर पर इसी मनोवृत्ति से बर्ताव करते हुए दिखाई देते हैं। ये लोग ईमानदारी से भी मानते हैं कि यहाँ धर्म और नीति को स्थान नहीं है। जहाँ धर्म व नीति न हो, जहाँ स्वार्थ का बोलबाला हो, वहाँ त्याग का नाम तक सुनायी न दे तो कोई आश्चर्य नहीं। मजदूर ऐसा मान बैठते हैं कि कारखाने का मालिक, व्यापारी या जमींदार स्वार्थ के लिए ही सब कुछ किया करता है। इसलिए उसके दिल में मालिक के प्रति हमदर्दी नहीं रहती, न उसका मन ही काम में लगता है। सामान्य जनता भी ऐसा मानती है कि ये लोग कभी त्याग नहीं कर सकते, अतः जनता में भी उनके प्रति आदर की भावना नहीं रहती।

मालिक और मजदूर के बीच हमेशा संघर्ष दिखाई देता है। इसका वास्तविक कारण यह नहीं है कि इन दोनों के हित में परस्पर-विरोध है। सच तो यह है कि मालिक केवल स्वार्थांध होकर मजदूरों के साथ बर्ताव करते हैं। वर्तमान स्थिति में मजदूरों के बारे में भी कुछ हद तक यह बात सही है।

यदि किसी तरह संघर्ष मिटाना हो तो मालिक और मजदूर, व्यापारी और ग्राहक के बीच सद्भाव एवं सहानुभूति का वायुमंडल निर्माण करना चाहिए। इस दृष्टि से व्यापार और उद्योग-धंधों में ऐसी पद्धति का रूढ़ करना जरूरी होगा, जिसमें स्वार्थ-संपादन का ध्येय न हो।

इसके अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में अन्य कोई भी पद्धति उचित नहीं होगी, ऐसा मानना चाहिए। इसका अर्थ स्पष्ट है कि अन्य क्षेत्रों की तरह इन व्यवसायों को केवल सामाजिक हित के विचार से चलाना

आवश्यक होगा और इसमें अर्थसंपादन को गौण स्थान रहेगा। यह मूल सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवसाय का त्यागपूर्वक चलाना अपने आप स्वीकृत हो जायगा।

मालिक के कर्तव्य

हरएक मालिक को दो तरह के कर्तव्य पूरे करने पड़ेंगे। एक तो समाज के लिए कि वह जितना माल तैयार करेगा, वह शुद्ध और सस्ता होना चाहिए और दूसरा यह कि माल के निर्माण तथा लाने-ले जाने के लिए जो श्रमजीवी लोग मेहनत करेंगे, उनके अधिक-से-अधिक हित की ओर ध्यान देना होगा। इसके लिए व्यापारी समाज में श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता, धीरता, उदारता, समयज्ञता आदि बौद्धिक गुण आवश्यक हैं। ऐसे न्यायपूर्ण व्यवहार में आवश्यकता पड़ने पर सैनिक अथवा डॉक्टर की तरह जान तक देने की कर्तव्यबुद्धि जाग्रत रहनी चाहिए। माल की खपत करते समय उसे दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक होगा। किसी को दिया हुआ अभिवचन वह अवश्य पूरा करे, क्योंकि वचनभग से व्यापार नहीं चल सकता। दूसरी बात यह कि माल बिल्कुल शुद्ध या दुरुस्त होना चाहिए। वचनभंग करना, मिलावट का या रद्दी माल बेचना, जरूरत से ज्यादा कीमत लेना आदि अन्याय्य-कर्म की अपेक्षा दरिद्र रहकर कष्ट और दुःख झेलने की हिम्मत व्यापारी में होनी चाहिए।

माल की खपत और तेजी-मंदी का असर

वर्तमान स्थिति में माल की खपत के अनुसार मजदूरों के वेतन में फर्क पड़ता रहता है और व्यापार की तेजी-मंदी के अनुसार उन्हें सदा

नौकरी खोने का भय बना रहता है। ऐसी अनिश्चित अवस्था मे सद्भावना की अपेक्षा करना व्यर्थ है। बल्कि उसके भीतर की द्वेष-भावना के प्रस्फुटित होने की संभावना ही अधिक रहती है। अतः इस स्थिति को बदल देना आज की पहली आवश्यकता है, जिससे मालिक और मजदूर के बीच सद्भाव और स्नेह बढ़े तथा श्रम-संपत्ति के परिमाण में वृद्धि हो। इससे यह स्पष्ट है कि कारखानो के मालिको और व्यापारियों को ऐसी पद्धति का शोध और अवलंबन करना चाहिए, जिससे व्यापार की तेजी-मन्दी तथा अच्छी या बुरी अवस्था का संपत्ति के निर्माण में लगे हुए श्रमजीवियों की संख्या पर असर न पड़े और उन्हें निश्चित वेतन मिलता रहे। इस योजना में समाज को भी सहयोग और सहमति प्रदान करनी चाहिए।

इस तरह का व्यवहार करना कोई अनोखी बात नहीं है। वास्तव में दुनिया के श्रेष्ठ स्तर के सब कामो की दरें इसी प्रकार तय की हुई होती हैं। तो फिर जिन कामो पर समाज अपनी प्राथमिक जरूरतों के लिए निर्भर रहता है, उनमें लगे हुए श्रमिको पर भी वही नियम क्यों नहीं लागू होता, यह समझना मुश्किल ही है।

अगर यह योजना कार्यान्वित की जाय तो मालिक और समाज, दोनों को आरम्भ में काफी नुकसान और असुविधा सहनी पड़ेगी, यह सही है; पर कोई ऐसा दावा थोड़े ही कर सकता है कि मेहनत या नुकसान सहे बिना आसानी से कुछ हो जाता है और यह अन्त में हितकारी या ठीक भी हुआ ही करता है। इससे उल्टे यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ऐसी व्यवस्था का अन्त में हानिकारक होना अधिक सम्भव होता है। • • •

संपत्ति की धाराएँ

आधुनिक अर्थशास्त्री दावा करते हैं कि धनवान बनने की शिक्षा देने के लिए अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है और इसके सिद्धान्तानुसार जो काम करेंगे वे धनवान होंगे तथा इसके नियमों को भंग करनेवालों के नसीब मे गरीबी होगी। यह उनके अनुभव की बात मानी जाती है। अगर यह बात स्वीकार की जाय तो भी समाज की दूसरी इकाइयों पर अपनी धनिकता के क्या और कैसे उचित-अनुचित परिणाम होंगे, इसका ज्ञान धनिकों को बहुत कम होता है, यह भी उतना ही सही है। बहुत थोड़े लोगों को इसका ज्ञान है कि आखिर "अमीरी का क्या मतलब होता है ?" अमीरी तो सापेक्ष अर्थात् दूसरी वस्तु की तुलना द्वारा अपना अस्तित्व सिद्ध करनेवाली कल्पना मात्र है। इस बात को ध्यान में रखकर काम करनेवाले लोग बहुत कम दिखाई देते हैं। यह सामान्य भ्रम है कि अर्थशास्त्र के विशेष नियमों के मुताबिक काम करने से धनवान होना आसान है। लेकिन अमीरी की तुलना में बिल्कुल विपरीत स्थिति का ज्ञान करानेवाली गरीबी की भी एक अवस्था है। समस्या के इस पहलू का विचार करने पर यह आश्चर्यजनक कथन प्रतीत होगा कि समाज का हरएक आदमी कैसे अमीर हो सकता है। इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। अमीरी तो बिजली जैसी एक शक्ति है, जो विषमता एवं आत्मशक्ति के सहयोग से ही अपना प्रभाव दिखाती है। यह साधारण अनुभव है कि पड़ोसी पर धन का प्रभाव तभी पड़ता है, जब उसके पास धन का अभाव हो। अत. 'सामाजिक अर्थशास्त्र' और 'व्यापारी अर्थशास्त्र' में जो मौलिक अन्तर है, उसे समझ लेना

चाहिए। ठीक समय पर और ठीक स्थान में सुखदायी एवं उपयोगी वस्तुएँ कैसे बनायी जायँ, उन्हे किस प्रकार सुरक्षित रखा जाय, उनका वितरण कैसे किया जाय—इन बातों को 'सामाजिक अर्थशास्त्र' (राष्ट्र एवं नागरिकों का अर्थशास्त्र) स्पष्ट करता है। इसके विपरीत 'व्यापारी अर्थशास्त्र तो सिर्फ धन-उपार्जन करने का एक तरीका भर बताता है। इस शास्त्र का अन्तिम एवं स्वाभाविक परिणाम यह है कि समाज के एक समूह के हाथ में संपत्ति एवं सत्ता केंद्रित हो जाती है और दूसरे समूह को कर्ज और गरीबी की आँच लगती है।

'अमीरी' का अर्थ

इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहना असंभव है कि तथा-कथित अमीरी से भरे-पूरे राष्ट्र में सम्पत्ति की वृद्धि हुई है और जनता का कल्याण हुआ है। लेकिन यह व्यापारिक सम्पत्ति अथवा श्रमिकों की श्रमशक्ति पर नियंत्रण करने की सत्ता वास्तविक सम्पत्ति में अक्सर रूपान्तरित की जा सकती है, पर वास्तविक सम्पत्ति हमेशा नियंत्रण की सत्ता में परिवर्तित नहीं की जा सकती। इसलिए आज-कल के उन्नतिशील राष्ट्रों के उद्योगपतियों में 'अमीरी' का अर्थ सामान्यतः 'व्यापारी सम्पत्ति' मान लिया गया है। ऐसी मनोवृत्ति बनने का और एक कारण है। किसी के पास विपुल मात्रा में धन होने पर भी जब तक उसके हाथ में इतना व्यापारी-अधिकार न हो, जिससे वह दूसरों का श्रम खरीद सके, तब तक उस व्यक्ति को उस सम्पत्ति से विशेष लाभ नहीं हो सकता। इस अवस्था में मालदार आदमी को गरीब की तरह कष्टमय एवं साधारण जीवन ही बिताना पड़ेगा। अतः अमीरी का सरल अर्थ है 'नौकर, व्यापारी अथवा कलाकार के श्रम

का अपने सुख के लिए उपयोग करने का अधिकार अपने हाथ में रखना।' अधिक स्पष्टता से शब्दों में कहा जाय तो संपत्ति का अर्थ यह लगाया जाता है कि अमीर अपनी इच्छानुसार देश की सारी जनता द्वारा हितकारी, हानिकारक या हीन-उद्योग कराने का अधिकार अपने हाथ में रखे। लेकिन इस प्रभुता का सामर्थ्य उन लोगों की सापत्तिक स्थिति पर निर्भर रहेगा जिन पर सत्ता स्थापित करनी है; इसलिए धनिक होने की कला का अर्थ धन-संचय तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि इसमें यह अर्थ भी स्पष्ट रूप में अभिप्रेत है कि उससे ऐसी स्थिति पैदा करने की कला प्राप्त हो जाय, जिससे पड़ोसी आदि अधिक धन उत्पन्न न कर सके। इसलिए जो सामाजिक विषमता उत्पन्न होगी वह कहाँ तक राष्ट्र के लिए हितकारी या हानिकारक है, इसका विचार केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं किया जा सकता। सामान्य जनता में जो अनेक अर्थशास्त्रीय हेत्वाभास रूढ़ हैं, उनके मूल में प्राय यही अविवेकमूलक एव हास्यास्पद दृष्टिकोण है कि आर्थिक विषमता हित-कारी होती है।

संपत्ति और समाज-द्रोह

इसके सबंध में हमेशा के लिए अपरिहार्य नियम यह है कि आर्थिक विपमता जिस पद्धति के कारण उत्पन्न हुई और जिस उद्देश्य से उसका उपयोग किया जा रहा है, उस पर उसका हितकारी होना या न होना निर्भर रहेगा। अन्याय के कारण उत्पन्न होनेवाली आर्थिक विपमता से देश की हानि होती है। उससे अन्याय बढ़ता हो तो देश की और भी भीषण हानि होगी। इसके विपरीत, न्यायपूर्ण व्यवहार के कारण जो आर्थिक विषमता पैदा होगी उसका उदारता के साथ

उपयोग किया गया तो उससे देश का हित होगा। अगर देश की आर्थिक व्यवस्था ठीक रही और लोग उद्योगप्रिय बने, तो जनता की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने में विशेष व्यक्तियों की विशेष शक्तियों का उपयोग किया जा सकता है, जिससे भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि एवं कार्यक्षमता की परख भी होगी। इस अवस्था में विषमता आने पर भी संवादित्व अर्थात परस्परपूरक होने का गुण उसमें रहेगा, क्योंकि हरएक को अपने-अपने काम और श्रेणी के मुताबिक सत्ता तथा संपत्ति का लाभ होगा। इसके विपरीत राष्ट्र के लोग अगर निरुद्योगी रहे और शासन-व्यवस्था ठीक न रही तो ऊँच-नीच का भाव बढ़ेगा, जो राष्ट्र की विकृति का निदर्शक होगा। इस स्थिति में दैवयोग से थोड़ी सफलता भी मिल जाय तो मानना चाहिए कि उसका आधार समाज-द्रोह है। वहाँ एक तरफ आर्थिक वैभव और दूसरी तरफ दासता के कारण जनता में ऊँच-नीच के भाव निश्चय ही पैदा होंगे। यह विषमता ऊपर बतायी गयी ऊँच-नीच की भावना से भिन्न होगी। यहाँ की श्रेष्ठता अन्यायदर्शक होगी और कनिष्ठता अपराध एवं दुर्भाग्य का प्रतीक होगी। समाजरूपी शरीर के किसी खास हिस्से में अत्यधिक धनसंचय हुआ तो उसकी उत्पादन शक्ति कमजोर हुए बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब समाज में दूसरों की मेहनत की बदौलत प्रभुत्व स्थापित करनेवाली व्यापारी संपत्ति बढ़ती है तो ध्यान में रखना चाहिए कि उस समाज में सच्ची वस्तुरूप संपत्ति का अभाव है।

इसलिए किसी समाज या देश की संपत्ति का मूल्य आँकते समय यह देखना आवश्यक होगा कि उसने संपत्ति किस प्रकार पैदा की है।

केवल संचित धन को देखकर राष्ट्र के हित या हानि का निश्चय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार बीजगणित में संख्या के पहले जोड़ या बाकी का चिह्न देखने के बाद उसका निर्णय किया जाता है, उसी प्रकार सामाजिक संपत्ति का नैतिक आधार है या नहीं, यह देखकर ही उसके वास्तविक मूल्य का निर्णय करना होगा। विशेष व्यावसायिक संपत्ति के कारण सच्चा उद्योग, बढ़ती हुई श्रमशक्ति तथा उत्पादन बढ़ानेवाले अनुसंधान या खोज आदि हो सकती हैं। यह भी सम्भव है कि विनाशकारी भोग-लिप्सा, कठोर अत्याचार और विघातक वंचना से ही संपत्ति प्राप्त की गयी हो। धनसंचय की प्रवृत्ति में इन बातों को केवल नैतिक या काल्पनिक मानकर धनवान बनने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, ऐसा मानना बड़ी भूल होगी। संपत्ति के साथ-साथ चलनेवाली ये बातें वास्तव में भौतिक हैं। इसलिए धनसंचय के मूल्य में इतने अधिक परिमाण में उतार-चढ़ाव होता रहता है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अर्थसंपादन के इतने तरीके हैं कि जिनसे उस काम में जुटे हुए लोगों को अन्य तरीकों से और दसगुनी संपत्ति मिल सकती है। इसके विपरीत कई तरीके ऐसे भी हैं, जिनके कारण सामाजिक संपत्ति उतने ही परिमाण में नष्ट हो जाती है। इसलिए ऐसा मानना बहुत बड़ी भूल होगी कि अर्थ-संपादन में नैतिकता की ओर ध्यान न देकर समाज को सिर्फ धन कमाने के तरीके बताने से अथवा किसी राष्ट्र को क्रय-विक्रय और लाभ-संबंधी सामान्य तान्त्रिक नियम बताने से ही काम चल जायगा। लोगों को कुमार्ग पर ले जानेवाली इससे बढ़कर उन्मादक या नशीली चीज दूसरी नहीं हो सकती।

लज्जाजनक मन्त्र

"जहाँ सस्ते-से-सस्ता माल मिले, वहाँ खरीदो और जहाँ महँगे-से-महँगा बिक सके वहाँ बेचो", आधुनिक अर्थशास्त्र के इस मंत्र से बढ़कर मनुष्य के लिए अधिक लज्जाजनक बात आज तक किसी इतिहास में मुझे नहीं दिखाई दी। ऐसे व्यवहार का सिद्धान्त आधुनिक राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को स्वीकार नहीं हो सकता, क्योंकि माल के महँगे या सस्ते होने के कारणों का पता आपको चलेगा ही, इसका कोई निश्चय नहीं है। संभव है कि जिन कारणों से माल महँगा या सस्ता हुआ है वे आपके समाज के लिए अर्थात् आपके लिए विनाशकारी साबित हों। मनुष्य अपने कार्य में ईमानदार या न्यायपूर्ण रहा या नहीं, यह जानना उसके लिए आसान है। वह इतना विचार करे तो काफी होगा। ऐसा करने से उसे इतना समाधान अवश्य होगा कि दुनिया में जो खून-खराबी और लूट-पाट मची हुई है, उसे बन्द कराने में अपनी शक्ति भर उसने कोशिश की।

सद्गुण और नैतिक शक्ति

इस विवेचन से एक बात स्पष्ट होगी कि आर्थिक समस्या अन्त में न्याय-संस्थापना की समस्या में ही विलीन होती है। संक्षेप में धन का अगभूत महत्व अथवा मूल्य इसीसे आँकना संभव है कि उसके द्वारा मनुष्यों पर कितनी प्रभुता स्थापित की जा सकेगी। यह प्रभुता स्थापित न हुई तो चाहे कितनी ही भौतिक संपत्ति क्यों न हो, वह व्यर्थ होगी। यदि किसी दूसरे मार्ग से सत्ता प्रस्थापित हो सकती है तो मनुष्य को उस परिमाण से धन अनावश्यक प्रतीत होगा। मनुष्य

समाज पर धन के बगैर भी सत्ता स्थापित हो सकती है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, धन के बल पर स्थापित की गयी सत्ता हमेशा अपूर्ण और संदेहजनक रहती है। दुनिया में कई बातें ऐसी हैं, जो पैसे की बदौलत नहीं मिल सकेंगी और कई ऐसी हैं, जो पैसे की सहायता से पास में रखी नहीं जा सकतीं। सोना देकर भी जितना सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता, उतना सुख मनुष्य एक-दूसरे को दे सकता है। उनमें पारस्परिक निष्ठा इतने ऊँचे दर्जे की होती है कि उसका मूल्य सोने-चाँदी से आँकना सम्भव नहीं। जहाँ धन से काम नहीं चलता, वहाँ सद्गुण या नैतिक शक्ति प्रभावोत्पादक होती है, इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर मालिक मजदूरों के साथ पेश आयें तो बहुत बड़ा काम होगा। इससे राष्ट्र में चारों ओर दिखाई देनेवाला घोर संघर्ष बन्द हो जायगा और राष्ट्र में वास्तविक संपत्ति की वृद्धि होगी।

अगर यह सिद्धान्त सिद्ध हुआ और सबको मंजूर हुआ कि मनुष्य से काम कराने की शक्ति ही सच्ची संपत्ति है, तो मनुष्य जिस परिमाण में बुद्धि और नीति से काम लेगा, उस परिमाण में संपत्ति बढ़ती रहेगी। यह बात समझना आसान है। एक बार इस सिद्धान्त पर विश्वास हो जाय तो फिर यह समझने में देर नहीं लगेगी कि सच्ची संपत्ति सोना-चाँदी नहीं, किन्तु मनुष्य ही है। संपत्ति की खोज पृथ्वी के गर्भ में नहीं, किन्तु मनुष्य के हृदय में करनी है। अगर इसमें कोई सचाई है तो अर्थशास्त्र का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक एवं मानसिक बल बढ़ाकर उसमें उत्साह भर देना होना चाहिए। • • •

ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व के एक यहूदी व्यापारी की एक कथा मशहूर है। उसने काफी धन कमाया था। व्यवहारकुशल व्यापारी होने के नाते उसकी बड़ी ख्याति थी। उसने अपनी हिसाब-बही में आर्थिक व्यवहार के बारे में कई आम सूत्र और सिद्धान्त लिख रखे थे, जो आज भी प्राप्त हैं।

आर्थिक व्यवहार के सूत्र

उसका एक सूत्र है: "जो मनुष्य झूठ बोलकर संपत्ति कमाने की लालसा रखते हैं, वे साक्षात् मृत्यु के अनुगामी बनते हैं।" इसी अर्थ का उसका दूसरा भी वचन है: "दुष्ट-बुद्धि से कमाया हुआ धन लाभदायी नहीं होता। लेकिन न्यायी मनुष्य को मृत्यु का भय नहीं रहता।" इन दोनों वचनों के बारे में यह ध्यान देने योग्य है कि अन्याय से कमाये हुए धन का अन्तिम परिणाम मृत्यु अथवा विनाश ही बताया गया है।

यहाँ 'झूठ बोलकर' के बदले 'झूठे लेबिल, झूठे नाम, दंभ अथवा विज्ञापन आदि की सहायता से' ये शब्द रखे जायँ, तो आधुनिक व्यवसाय-व्यवहार से उनका कितना निकटतम सम्बन्ध है, यह स्पष्ट हो जायेगा। इस प्रकार के मानवीय प्रयत्नों को उसका दिया हुआ "मृत्यु का अनुगामित्व" नाम फबता है। हम जानते हैं कि मृत्यु हमारा पीछा कर रही है, मगर सच यह है कि अनेक प्रकार के मोह के कारण हम स्वयं ही मृत्यु के पीछे दौड़ रहे हैं। यहूदी व्यापारी ने कहा है: "जो लोग धन की लालसा से गरीबों पर अत्याचार करते वे

निःसन्देह दरिद्र होंगे।" उसने आगे लिखा है : "केवल दरिद्र होने के कारण किसी मनुष्य को नहीं लूटना चाहिए, क्योंकि जो लोग दूसरों की दुर्गति करते हैं, उनकी दुर्गति परमात्मा करता है।"

गरीब का शोषण चोरी है

किसी गरीब का शोषण करना एक तरह से व्यापारी-ढग की चोरी है। मनुष्य की दुःस्थिति से फायदा उठाकर उसकी श्रमशक्ति अथवा माल का मूल्य कम देने की बात इसी श्रेणी के अतर्गत आती है। डकैती का रिवाज इसके बिल्कुल विपरीत है। डाकू तो किसी मनुष्य को सिर्फ उसकी अमीरी के कारण ही लूटता है, लेकिन व्यापार में तो गरीबों की लूट होती है। यहूदी व्यापारी कहता है : "धनवान् और गरीब तो एक-दूसरे के सामने खड़े हैं। परमात्मा ने उन्हे जन्म दिया और वह उन्हे ज्ञान एव प्रकाश देता है।" अमीरों और गरीबों का एक-दूसरे के बगैर काम नहीं चलता, फिर चाहे उन्हें एक-दूसरे का खाद्य समझा जाय अथवा परस्पर-पूरक ही माना जाय। जब वे एक-दूसरे का भक्ष्य बनते हैं, तब उससे बहुत विपरीत एव अनिष्ट परिणाम निकलते हैं। जब वे परस्पर-पूरक बनते हैं, तो उससे जीवनदायी तथा अनुकूल फल प्राप्त होता है।

सम्पत्ति गरीबों की ओर बहनी चाहिए

सम्पत्ति तो नदी की तरह प्रवाहशील होती है। नदी समुद्र की ओर अर्थात् उतार की तरफ बहती है। उसी तरह सम्पत्ति का प्रवाह भी उतार की दिशाओं में अर्थात् गरीबों की ओर वह निकले, तो वह निःसंदेह जीवनदायी एवं सुखदायी सिद्ध होगा। अर्थशास्त्र के उद्देश्य

को केवल धन-उपार्जन की कला तक सीमित रखना बहुत बड़ी भूल होगी। न्याय्य तथा जीवन की उपयुक्तता की दृष्टि से सम्पत्ति का बँट-वारा करना अर्थशास्त्र का उद्देश्य होना चाहिए। चोरी या डकैती से धनवान् बनना हम पाप और अधर्म समझते हैं। लोगों को दिये जाने-वाले अन्न या जीवनोपयोगी चीजों में मिलावट करके बेचने का मत-लब दूसरों को जहर देकर स्वयं अमीर बनने-जैसी दुष्टता है। वर्तमान अर्थशास्त्रज्ञों की घोषणा है—"कानून के मुताबिक और न्याय के मार्ग से धन कमाना चाहिए।" लेकिन इसमें कानून की अपेक्षा न्याय का महत्त्व अधिक है, क्योंकि ऐसे कई काम हो सकते हैं, जो किसी राष्ट्र या राज्यशासन के अन्तर्गत अथवा वकीलों की सहायता से बिल्कुल कानूनन कहे जायेंगे, मगर उनमें न्याय का अंश जरा भी नहीं होगा। इसलिए हम यदि अपनी परिभाषा में केवल न्याय शब्द को ही स्थान देते हैं तो एक छोटे-से शब्द द्वारा अर्थशास्त्र के सारे व्याकरण में फर्क पड़ जायगा। इससे यह सिद्ध होगा कि हमें वैज्ञानिक नियमों को स्वीकार करके ही धनवान् बनना हो तो न्याय के मार्ग पर चलना चाहिए, परन्तु न्याय का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है।

ज्ञान और विवेक का उपयोग

इस दृष्टि से मनुष्य का पहला कर्तव्य यह होगा कि वह न्यायबुद्धि का अर्थ ठीक-ठीक समझ ले। अपने ही बनाये हुए कानून के मुताबिक काम या व्यापार करने से काम नहीं चलेगा, न वैसा करना न्यायसंगत होगा। बहुधा ऐसा न्याय मत्स्य-न्याय कहा जायगा। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, यह प्रकृति का नियम अथवा न्याय है। लेकिन मनुष्य, चूंकि प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही चलनेवाला प्राणी है

और उन्हीं नियमों के पालन करने में उसका हित है, ऐसा मानकर हम चलेंगे या परस्पर व्यवहार करेंगे तो इसका अर्थ यही होगा कि परमात्मा ने मनुष्य को जो ज्ञान एवं विवेकबुद्धि दी है, उसका उपयोग वह नहीं करता। ज्ञान अथवा विवेकरूपी दीप के प्रकाश में मनुष्य जो काम करेगा, वही उसका न्यायसगत व्यवहार कहा जायगा। मनुष्य जब दूसरे के साथ न्याय का बर्ताव करता है, तब वह मनुष्य कहलाने योग्य होता है। तब कहीं प्राणिमात्र के लिए उसका व्यवहार सुखदायी एवं हितकर सिद्ध होगा। अब हम देखेंगे कि श्रम के बदले में उचित पुरस्कार मिलने का क्या अर्थ है।

उचित पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए

किसी व्यक्ति को काम देने पर वह कुछ पुरस्कार माँगेगा या मुफ्त में भी काम करेगा। मुफ्त में किये जानेवाले काम के बारे में कोई सवाल उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वहाँ स्नेह रहता है, सौदा नहीं होता। जब वह पुरस्कार की माँग करता है तथा उसके साथ न्यायपूर्ण बर्ताव करने की इच्छा रखता है, तब यह स्पष्ट है कि जितना समय, शक्ति खर्च करेगा, कौशल दिखायेगा, उतना पुरस्कार या श्रम का मूल्य उसे देना आवश्यक है। इस न्याय्य-पारिश्रमिक की सरल और मूलभूत कल्पना में सिर्फ एक बात के कारण थोड़ी गौणता आ जाती है। जमीन में बीज बोने के बाद जिस प्रकार उसमें से फल निकलता है, उसी प्रकार योग्य दिशा में श्रम करने से मनुष्य को उचित परिश्रम का भी फल अवश्य प्राप्त होता है। (इसीको वृद्धि अथवा सूद कहते हैं।) इसीलिए मनुष्य के श्रम का पुरस्कार कुछ अवधि के बाद मिलनेवाला हो तो उसका विचार करके उस पुरस्कार में और वृद्धि होना

जरूरी है। जिस श्रम का पुरस्कार एक वर्ष अथवा विशेष अवधि के बाद देना पड़ेगा, उसका मोटे तौर पर ही हिसाब लगाना सम्भव है। लेकिन जिस श्रम का पुरस्कार अथवा मूल्य पैसे के रूप में दिया जायगा, उसमें अवधि का कोई सवाल नहीं उठता। (इसका कारण यह है कि पैसा मिलने पर वह व्यक्ति उसी क्षण अथवा इच्छानुसार आगे भी खर्च करने के लिए स्वतंत्र रहता है।) साधारणतः हम इतना मान सकते हैं कि जो मनुष्य दूसरों का काम पहले करता है और अपने श्रम का मूल्य कुछ अवधि के बाद पाता है, उसे थोड़ा ही क्यों न हो, कुछ अधिक पुरस्कार मिलना आवश्यक एवं न्यायसंगत होगा। इस संबंध में आदर्श व्यवहार इस प्रकार हो सकता है: मान लीजिये कि आपने आज मेरे लिए एक घंटे तक काम किया, तो उसके बदले में आप कहेंगे उस वक्त एक घण्टा और ऊपर से पाँच मिनट काम करने की मुझमें तैयारी होनी चाहिए। उसी तरह आपने मुझे एक पौण्ड डबल रोटी दी, तो आपको माँगने पर सत्रह औंस डबल रोटी देने के लिए मुझे तैयार रहना चाहिए। पाठक इतनी ही बात ध्यान में रखें कि हरएक मनुष्य को उसके श्रम का उचित पुरस्कार तो हर हालत में मिलना ही चाहिए।

सिद्धान्त की दृष्टि से मजदूरी की उचित और न्याय्य परिभाषा यही हो सकती है कि मालिक के लिए मजदूर जितनी मेहनत करेगा, उतनी मेहनत या श्रम अन्य मार्ग से प्राप्त करने की क्षमता उसमें आ सके, इतना पैसा तो मजदूर को मिलना ही चाहिए। हो सके तो थोड़ा अधिक ही पुरस्कार उसे दिया जाय, लेकिन किसी भी हालत में कम तो न हो। पुरस्कार की दर किसी प्रकार काम करनेवालों की संख्या पर निर्भर न रहे। मुझे अपने घोड़े के पैर में नाल लगानी है और

यह काम करनेवालों की सख्या बीस रहे या बीस हजार रहे, उनके बीच संख्याधिकता के कारण स्पर्धा रहने पर भी नाल जडनेवाले की उचित मजदूरी में रत्ती भर भी फर्क नही पडना चाहिए। नाल बैठाने और तैयार करने में उस आदमी को अपनी जिन्दगी के जो दस-पन्द्रह मिनट खर्च करने पडे होंगे या जितनी मेहनत या कौशल दिखाना पडा होगा, उसके बदले में मेरे जीवन का उतना ही समय, कौशल या मेहनत (अथवा किसी दूसरे मनुष्य की जिन्दगी से जितना मैं दिला सकूँ उतना) उस नालबंद को उसके आवश्यक कार्य के लिए प्राप्त करा देना मेरा कर्तव्य होगा।

श्रम के बदले में दिये जानेवाले न्याय्य पुरस्कार की सैद्धान्तिक उत्पत्ति इस प्रकार की है। प्रत्यक्ष व्यवहार में उसे लागू करते समय और एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। हम किसी व्यक्ति से काम कराते हैं तो उस काम की विशेषताएँ ध्यान में रखते हुए पुरस्कार दिया जायेगा तो उसके बदले में दूसरे से किसी तरह का काम करवा लेने की क्षमता एव सत्ता उस व्यक्ति को प्राप्त होती है। देश में प्रचलित सिक्के पास रखने का मतलब है कि किसी प्रकार का काम या श्रम खरीदने की सत्ता अपने पास है। देश में जो सिक्के चलते हैं उन्हे हर प्रकार के काम या श्रम खरीदने की क्षमता रखनेवाली राष्ट्रीय हुडी ही समझना चाहिए। पैसे में तात्कालिक आवश्यकताएँ शीघ्रता से पूरी करने की क्षमता या गुण आमतौर पर हुआ करता है। इस कारण किसी विशेष या प्रत्यक्ष काम की अपेक्षा पैसे का महत्त्व बहुत है। सिक्केवाली हुण्डी की दर काम के मूल्य की अपेक्षा कम होने पर भी उपर्युक्त गुण के कारण लोग उसे स्वीकार करने को तत्पर रहते हैं। इच्छा होते ही अपनी क्रयशक्ति का उपयोग करना सभव हो सके तो आधा घंटा या उससे भी कम काम प्राप्त करने की सत्ता के बदले कोई

भी कारीगर पूरा एक घंटा काम करने के लिए खुशी से तैयार हो जायगा। इस प्रकार की अस्थिरता तथा भिन्न-भिन्न काम या कला का मूल्य पैसे में निर्धारित करना कठिन होने के कारण किसी विशेष काम के पुरस्कार का मूल्य सिक्कों के रूप में, स्थूल रूप में निर्धारित करना एक समस्या बन जाती है। फिर भी इससे विनिमय के सिद्धान्त में बाधा नहीं पड़ती। काम का मूल्य निर्धारित करना कठिन होने पर भी उसका कुछ-न-कुछ मूल्य अवश्य है, इसमें संदेह नहीं। इसके अलावा, आजकल के प्रचलित अनाड़ी अर्थशास्त्र की माँग और खपत के नियमानुसार काम का कम-से-कम मूल्य निर्धारित करना जितना कठिन या अनिश्चित है, उससे यह निश्चय ही आसान होगा। कोई भी न्यायप्रिय मनुष्य उचित मूल्य देने की इच्छा रखता है। यह सम्भव है कि उचित मूल्य का निर्धारण करने में वह असमर्थ रहे, फिर भी ऐसा करते समय किसी प्रकार मर्यादाओं का अतिक्रमण न होने पावे, इसका वह जरूर खयाल रखेगा।

वह इस प्रश्न का करीब-करीब ठीक और व्यावहारिक उत्तर जरूर दे सकता है। लाचार आदमी कितने थोड़े पुरस्कार में काम करने को तैयार हो सकता है, इसका वैज्ञानिक ढंग से अनुमान लगाना सरल है। उसकी आवश्यकताएँ अन्दाज से ही जानी जा सकती हैं। लेकिन उसके पुरस्कार का निर्धारण परिस्थिति की मीमांसा या विश्लेषण के बाद अवश्य किया जा सकता है।

मान लीजिये कि मेरे पास दो मजदूर काम माँगने के लिए आये, जिनमें से कम मजदूरी माँगनेवाले को मैंने काम दिया। इसका नतीजा यह होगा कि उनमें से बेकार आदमी तो भूखा ही रहेगा, साथ ही

काम करनेवाले मजदूर को भी आधे-पेट ही रहना पड़ेगा। इसकी अपेक्षा, काम करनेवाले को अगर पूरी मजदूरी दी गयी तो वह भरपेट खा सकेगा और अपने पैसे का अच्छा उपयोग करने का संतोष मुझे अवश्य मिलेगा। हाँ, यह सही है कि दूसरा आदमी बेकार और भूखा रह जायगा। यह एक बड़ा भारी भ्रम है कि वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार आवश्यकता के परिमाण में जो मजदूरी दी जाती है, उन सबको काम देने या कम-से-कम आधा-पेट भोजन देने का श्रेय मिलता है। प्रचलित आर्थिक व्यवस्था में सबको काम मिलता ही है, यह सही नहीं है। बेकारी इसका अविभाज्य अंग है। सच पूछा जाय तो मजदूरों को कम मजदूरी देने से बेकारी तो रहती ही है, साथ ही दूसरे लोगों के भूखे रहने की भी नौबत आती है। यदि मैं पूरी-पूरी मजदूरी दूँ तो मेरे पास अकारण धन इकट्ठा नहीं होगा और भोग-विलास आदि में पैसा खर्च करना मेरे लिए असंभव होगा। फलतः बेकारी बढ़ाने में मैं मददगार नहीं हो सकूँगा। जिसे मैं पूरा पारिश्रमिक दूँगा, वह दूसरों को भी काम दे सकेगा। यही नहीं, दूसरों को उचित पारिश्रमिक देने के बारे में वह मेरा अनुकरण करेगा, जिससे न्याय का वृक्ष सूखने की अपेक्षा खूब फूले-फलेगा। समाज में धन का समविभाजन हुआ तो मुट्ठी भर लोगों के हाथ में अत्याचार की शक्ति केन्द्रित न होकर बहुसख्य जनता में वह बँट जायगी, जिससे अन्याय की ताकत एकदम कमजोर पड़ जायगी। इस प्रकार समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के बीच जो विषमता की खाई है, वह कम हो जायगी और आज के समान एक श्रेणी से दूसरी में प्रवेश करना उतना कठिन नहीं रहेगा। इससे समाज में जो असूया का साम्राज्य फैला हुआ दिखायी देता है, उसकी जगह सुख और समाधान दिखायी देगा।

स्पर्धा का दुष्परिणाम

स्पर्धा के कारण राष्ट्र संपन्न होता है, यह विचार भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। इसका परिणाम मजदूरी घटने में होगा। इससे थोड़े समय के लिए कुछ लोग भले ही अमीर और बहुत-से गरीब दिखायी देंगे, लेकिन अन्त में सबका नाश होगा। इसलिए हरएक मजदूर को उसकी योग्यतानुसार मजदूरी देने की नीति अख्तियार करनी चाहिए। इससे स्पर्धा तो अवश्य रहेगी, मगर लोग अधिक सुखी और ज्ञानवान बनेंगे। क्योंकि इसके अनुसार काम पाने के लिए अधिक मजदूरी माँगने की अपेक्षा उन्हें अपनी कार्यक्षमता बढ़ानी पड़ेगी। सरकारी नौकरों के बारे में यह नियम लागू है। उन्हें योग्यतानुसार ही स्थायी वेतन मिलता है। इसलिए सरकारी नौकरी में कम वेतन देने की बात करने की अपेक्षा अधिक योग्यता की ही माँग की जाती है। व्यापार के क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी जगह यह नियम है। व्यापार और उद्योग-व्यवसाय में जरूर स्पर्धा के विघातक नियम को स्वाभाविक मानने की प्रथा चल पड़ी है। परिणामतः इस क्षेत्र में हर तरह की दगाबाजी, असत्य और ठगी का बोलबाला है। बाजार में शुद्ध वस्तु की प्राप्ति असंभव-सी होती है, क्योंकि मालिक-मजदूर, दूकानदार-ग्राहक एक-दूसरे को ठगने और कम दाम देने में बुद्धिमानी, चातुर्य एवं स्वार्थ-सिद्धि समझते हैं। इनका परिणाम सर्वनाश में ही होगा। इसलिए सज्जनों ने कहा है कि जहाँ पैसे को ही परमात्मा मान लिया जाता है, वहाँ सच्चे परमात्मा की पूजा कोई नहीं करता।

आज की दुनिया में संपूर्ण समता का स्थापित होना असंभव है। मनुष्यों में कम-अधिक परिमाण में गुण है, वह दीर्घ-काल तक वैसा

रहेगा भी, ऐसा मानना ही चाहिए। जिनमें श्रेष्ठ गुण हैं, उन्हें दूसरों को मार्ग दिखाने अथवा अपने अधिक ज्ञान के कारण आवश्यकतानुसार लोगों पर अधिकार चलाने की सत्ता देना उचित होगा। हरएक क्षेत्र में सहयोग और नियंत्रण जीवनदायी तत्त्व हैं तथा अनियंत्रण एवं स्पर्धा विघातक तत्त्व हैं।

मैंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनसे सपत्ति के स्थायित्व को कितना धक्का पहुँचेगा, यह सदेह उत्पन्न हो सकता है। इसके लिए मेरा जवाब है कि सपत्ति सदैव शाश्वत बनी रहे, यही एकमात्र रहस्य इस निबंध द्वारा अन्त में प्रकट होगा। अतीत काल से माना जाता है कि अमीरों की सपत्ति पर आघात करने का गरीबों को अधिकार नहीं है। ठीक, उसी तरह गरीबों की सपत्ति पर भी आक्रमण करने का अमीरों को कोई हक नहीं है, यही मुझे साबित करना है।

मैं जिस आर्थिक स्थिति की व्याख्या करना चाहता हूँ, उसके स्थापित होने पर उसकी परपरागत अप्रत्यक्ष शक्ति भले ही कम न हो, किन्तु सपत्तिरूप सुखदेवता में आज जिस शक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है, वह नि:सदेह कम होगी। उसी प्रकार श्रमजीवी समाज पर प्रभुता स्थापित करनेवाली पूँजी की ताकत कम होगी, इससे मैं इनकार नहीं करता। मैं तो उसका सहर्ष स्वागत करूँगा, क्योंकि मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि सपत्ति में आज जो आकर्षण है और उसकी छत्रछाया में जो सत्ता पनप रही है उससे मनुष्य अपनी विवेकशक्ति खो रहा है।

मैंने पिछले निबध में कहा है कि प्रचलित अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों को वैज्ञानिक मानने से मानवों की बुद्धि को जो लांछन लगा, वैसा दूसरा उदाहरण इतिहास भर में नहीं मिलता। इस कथन की

पुष्टि अनेक प्रकार से की जा सकती है; लेकिन एक कारण संक्षेप में ऐसा है कि जिसके कारण हमारे अपने धर्म के मूलभूत आदि सिद्धान्तों का विधिवत नाश किया गया, ऐसा उदाहरण किसी राष्ट्र के इतिहास में नहीं मिलता। हम (मुख से) जिन धर्मग्रन्थों को परमात्माकृत मानते हैं, उन सबमें द्रव्यप्रेम को सारे संकटों का मूल कहा गया है, इन शब्दों में उस सिद्धान्त का निषेध किया गया है। इतना ही नहीं, धन की पूजा करना परमात्मा को बहुत अप्रिय है, और ऐसा करना ईश्वरोपासना से पूर्णतः विरोधी तथा विसंगत है, यही घोषणा ये ग्रन्थ करते हैं।

इन ग्रन्थों में जहां कहीं केवल संपत्ति और केवल गरीबी का वर्णन है, वहाँ अमीरों को शाप और गरीबों को आशीर्वाद दिया गया है। इतने पर भी 'अमीर' बनानेवाले 'शास्त्र' की खोज करने को ही हम राष्ट्रीय वैभव का आसान मार्ग समझे बैठे हैं।

मूल्य निर्धारण : ६ :

वस्तु की उपयोगिता

पिछले निबंध में काम का उचित मूल्य निश्चित करते समय हमने देखा कि 'मजदूर को उसके काम के बदले में, करीब-करीब उतना ही काम भविष्य में उसके लिए प्राप्त करना संभव हो सके, इतना पैसा देना चाहिए' और यही उसके काम का उचित मुआवजा है। इस समानता को स्थापित करने के साधनों पर हमें विचार करना चाहिए। इस सवाल में, 'मूल्य', 'संपत्ति', 'बाजार की दर' और 'उत्पादन' आदि की परिभाषाएं अंतर्भूत हैं। जिसके कारण

उपयोगी वस्तु निर्माण होती है, उसीको वास्तव में 'श्रम' कहना ठीक होगा। यह कहना या मानना ठीक नहीं होगा कि मनुष्य की वासना या हेतु को तृप्त करनेवाली वस्तु ही उपयुक्त मानी जाय। जिसके कारण मनुष्य का पोषण हो सके या नैतिक बल बढ़े, उसी वस्तु को उपयोगी अथवा उचित कहना चाहिए। अर्थशास्त्र के अनुसार जिन उपयोगी तथा इष्ट वस्तुओं का विनिमय-मूल्य हो, उन सबका अन्तर्भाव संपत्ति में किया जाता है, लेकिन किसी भी वस्तु की उपयुक्तता इस पर निर्भर है कि उसका इस्तेमाल करनेवाले या वैसी इच्छा रखनेवाले लोग कितने हैं। उसी तरह किसी वस्तु की उपयोगिता इससे सिद्ध होती है कि लोगों में इसकी कितनी चाह या मॉग है अथवा वह कहाँ तक पैदा की जा सकती है। इसका दूसरा अर्थ यह होगा कि वस्तु की उपयोगिता तत्सापेक्ष मानवीय वृत्ति पर निर्भर है। इसलिए अर्थशास्त्र का संबध सपत्तिशास्त्र से होने के कारण उसका विचार करते समय स्वभावतः मनुष्य की वृत्ति एवं वासना अथवा उपभोगक्षमता का विचार करना पड़ता है। श्रीयुत मिल् का कहना है कि नैतिक विचारों का अर्थशास्त्र से कोई सबंध नहीं है। अतः यह भी सिद्ध है कि मनुष्य की उपभोगक्षमता और मनोवृत्ति का नैतिकता से कोई संबध नहीं होता। लेकिन किसी वस्तु का मूल्य तत्सबंधी जनमत या उसकी नाप-जोख पर निर्भर नहीं रहता, कम-से-कम वैसा होना ठीक नहीं है। मनुष्य की रुचि में चाहे जितना परिवर्तन होता रहे, यह निश्चित है कि जीवन का पोपण करनेवाली वस्तुएँ हमेशा के लिए निःसंदेह अनमोल समझी जायेंगी।

सभी राष्ट्र जीवन-पोपक पदार्थों की अपेक्षा करें, उनके निर्माण का प्रयत्न करें, जीवन के लिए हानिकर वस्तुओं का निषेध तथा नाश करें,

इस प्रकार का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र ही सच्चा अर्थशास्त्र है। जीवन के लिए जो वस्तुएँ पोषक होंगी, उन्हीं के निर्माण में मनुष्य की श्रमशक्ति खर्च होनी चाहिए। इनके बदले समाज के लिए विनाशकारी या तड़क-भड़कवाली अर्थात् निरुपयोगी वस्तुओं के निर्माण में श्रमशक्ति खर्च करना प्रगतिशील समाज का लक्षण नहीं होगा। जल, वायु, अनाज, कपड़ा, आरोग्य, शिक्षा आदि के लिए जो चीजें जरूरी होंगी, उनके उत्पादन, वितरण और संचय के बारे में लोगों को शिक्षा देनी चाहिए। उसी तरह यह ध्यान देने योग्य बात है कि पारस्परिक विश्वास, प्रेम और शांति के आधार पर ही मनुष्य के लिए इन वस्तुओं का उपभोग करना संभव है।

जीवन के लिए पोषक एवं उपयोगी वस्तुओं के संग्रह को संपत्ति कहा जाता है। संपत्ति को समाज की एक शक्ति मानकर विचार करते समय इन दोनों बातों पर ध्यान देना चाहिए। इसलिए संपत्ति के उत्पादन में लोग किस तरह संलग्न हैं, और उसमें कौन सफल हो रहा है, इसका महत्त्व अधिक है, क्योंकि संपत्ति तो साधन मात्र है। सुख की तरह वह दुखदायी भी हो सकती है। यदि उस पर सज्जन मनुष्यों का अधिकार होगा तो वह जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण में खर्च होगी और राष्ट्र सच्चे अर्थ में सुखी एवं संपन्न होगा। इसके विपरीत, उस पर दुर्जनों का अधिकार होने से हानिकर वस्तुओं के निर्माण में वह लगायी जायगी, जिससे राष्ट्र दुःख और विनाश के गर्त में जा गिरेगा।

यह एक भ्रम है कि विनिमय के द्वारा धन की वृद्धि होती है। भौतिक संपत्ति की वृद्धि केवल उत्पादन और संशोधन द्वारा होती है,

विनिमय से नहीं। विनिमय द्वारा जहाँ कहीं भौतिक लाभ दिखायी देगा, वहाँ 'धन' सख्या के साथ 'ऋण' सख्या का भी निर्माण होगा। दुर्भाग्यवश यह 'धन' सख्या दुनिया को बहुत जल्दी आकर्षित करती है तथा प्रतिष्ठा पाती है। इससे उल्टे 'ऋण' सख्या पीछे पड़ जाती है, उस पर अज्ञान का परदा पड़ा रहता है, दृष्टि से ओझल हो जाती है। विनिमय द्वारा प्राप्त होनेवाले धन का लाभ दो समूहों में से एक के अज्ञान एव दुर्बलता पर अवलबित होता है। अतः वर्तमान विनिमयशास्त्र वास्तविक अथवा न्यायसगत अर्थशास्त्र नही कहा जा सकता। न्यायसगत अर्थशास्त्रीय विनिमय से तो दोनो समूहो का लाभ होना चाहिए, नुकसान तो किसीका भी न होना चाहिए। उसी तरह, जो मध्यस्थ याने व्यापारी होंगे उन्हें अपनी बुद्धि, श्रम और समय का उचित पुरस्कार मिलना जरूरी है।

मेहनत और बाजार की दर

समाज को जितना लाभ हुआ होगा या व्यापारी को जितना पुरस्कार मिला होगा, उसकी पूरी जानकारी उस काम से सबधित लोगों को होनी चाहिए। काम के बारे में किसी प्रकार की गोपनीयता रखने का यत्न होता हो तो ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं कि अविद्या के बल से आसुरी शास्त्र अपना प्रभाव दिखा रहा है। इसलिए उस यहूदी व्यापारी ने एक जगह लिखा है. "जिस प्रकार पत्थर के दो टुकडों को जोड़नेवाली कील दोनों में घुसी हुई रहती है, ठीक उसी प्रकार क्रय और विक्रय, इन दोनों क्रियाओं में पाप का अस्तित्व अवश्य रहता है।" कीलों के आधार पर खड़ी की गयी पत्थर या काठ की दीवारें बिजली के गिरने से ढह जाती हैं। ठीक उसी तरह लोभ-

जन्य पापपूर्ण क्रय-विक्रय की नींव पर खड़ी की गयी समाजरचना परमात्मा के प्रकोप से नष्ट हो जाती है। लेकिन लाभ के दो प्रकार हैं। एक है—अपनी आवश्यकताएँ पूरी होना और दूसरा है—वासना की तृप्ति। आजकल की दुनिया में जिन वस्तुओं की माँग है, उनमें से तीन-चौथाई तो ऐसी हैं, जिनका काल्पनिक आवश्यकता या वासना पूरी करने के लिए ही निर्माण होता है। ऐसी चीजों की माँग लोगों की रुचि, आकांक्षा, उद्देश्य या भ्रम पर अवलंबित होती है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से अपने आय-व्यय पर नियंत्रण रखने का मतलब है—अपनी आकांक्षा और वासनाओं पर संयम रखना, इसलिए बाजार की वस्तुओं की दरें तय करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। बाजार की दरों के बारे में निर्णय करते समय निम्न बातों की ओर ध्यान देना पड़ता है—वस्तु प्राप्त करने के लिए किसी मनुष्य को, जितनी मेहनत करनी पड़ती है; उतनी ही मेहनत का दूसरा अर्थ है, बाजार की दर। यह दर निम्न चार बातों पर निर्भर है, जिनमें प्रतिदिन फर्क पड़ता रहता है।

(१) वस्तु प्राप्त करने के बारे में ग्राहक में रहनेवाली वासना की तीव्रता।

(२) इसके ठीक विपरीत, वस्तु को पास रखने के संबंध में विक्रेता की तीव्र इच्छा।

(३) वस्तु संपादन करने के लिए स्वयं ग्राहकों को, कितना श्रम करना पड़ेगा, उसका परिमाण।

(४) अपने पास वस्तु रखने की इच्छा से विक्रेता, जितना कष्ट भुगतने के लिए तैयार रहेगा, उसका परिमाण।

इन बातों के अधिक मात्रा में होने पर ही उनकी कार्यक्षमता निर्भर रहती है। वासना की तीव्रता का अर्थ है, अन्य वस्तुओं के प्रति जितनी लालसा रहती है, उससे विशेष वस्तुओं के प्रति अधिक लालसा होनी चाहिए। उसी प्रकार वस्तु के बदले में श्रम देने का मतलब है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इसके लिए अधिक श्रम करना चाहिए।

मृत्यु के साथ जीवनशक्ति का जो संघर्ष चलता है, उसीका दूसरा नाम है 'श्रम'। 'जीवन' शब्द में मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति का अंतर्भाव होता है। समस्याएँ हल करना, कठिनाइयों का सामना करना, नये-नये प्रयोग करना, भौतिक शक्ति का प्रतिकार करना आदि उपायों द्वारा जीवनशक्ति विरोधी शक्तियों का सामना करती है।

जीवन की विविध शक्तियों में, जितने परिमाण में श्रम का व्यय होता है, उस हिसाब से श्रम की श्रेष्ठता या कनिष्ठता का निर्णय किया जाता है। किसी प्रकार के श्रेष्ठ कार्य में शारीरिक शक्ति का सम्पूर्ण तथा उचित उपयोग करना हो, तो बुद्धि तथा भावना का भी उचित मात्रा में अन्तर्भाव किया जाना चाहिए।

श्रम के मूल्य अथवा दर के बारे में विचार करते समय हमें श्रम की विशेषता और उपयोगिता की ओर ध्यान देना चाहिए।

श्रम की प्रेरणाएँ

श्रम के अन्तत अनेक प्रकार हैं तथा उनके मूल में अनेक तरह की प्रेरणाएँ हुआ करती हैं। इसलिए कोई भी राष्ट्र जीवन के लिए पोषक

वस्तुओं का कितना निर्माण करता है और उपभोग में कितनी श्रमशक्ति खर्च करता है, इस बात पर उस राष्ट्र का वैभव निर्भर है। इसके लिए सिर्फ धन के उत्पादन में ही बुद्धि लगाने से काम नहीं चल सकता, बल्कि उनका विभाजन एवं उपभोग भी बुद्धिमानी से करना आवश्यक है। कई अर्थशास्त्रज्ञ लिखा करते हैं कि वस्तुओं का उपभोग करना महत्त्व का काम नहीं है, लेकिन यह एक असत्य है। इसके विपरीत यह कहना ठीक होगा कि उपभोग ही संपत्ति के निर्माण का अंतिम उद्देश्य, साध्य और परिणति है। इसी प्रकार उत्पादन-कला की अपेक्षा उपभोग-कला का कौशल बहुत कठिन है। पैसा कमानेवाले दस-बीस लोगों में एकाध आदमी ही ऐसा निकलता है जो ठीक तरह से उपभोग कर सकता है। पर व्यक्ति अथवा राष्ट्र के विचार से महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही है कि पैसे का उपयोग कैसे किया जाता है। कितना पैसा कमाया जाता है, इसका महत्त्व कम है।

पूँजी शब्द से 'संचय', 'उद्गम' अथवा 'मूल धन' का बोध होता है। जिस मूलधन की सहायता से दूसरे धन का उत्पादन होता है, उसे पूँजी कहते हैं। जब वह स्वयं अपने से भिन्न दूसरे धन का निर्माण करती है, तब उसे पूँजी कहते हैं। जिस प्रकार बीज की सार्थकता और बीजों को जन्म देने में है, उसी प्रकार पूँजी द्वारा जब तक अन्य वस्तु निर्माण नहीं होती, तब तक उसका कोई मूल्य नहीं। मूल में से मूल और पूँजी में से पूँजी का निर्माण होता रहता है।

लेकिन जिस पूँजी में पूँजी के सिवा अन्य वस्तु का निर्माण करने की क्षमता नहीं रहती, उसका मूल्य उतना ही निरर्थक है जितना उन जड़ों

या कलियों का जो सिर्फ अपनी जैसी ही चीजें पैदा करती हैं। इसलिए किस पूँजी द्वारा कितनी पूँजी जल्द निर्माण होगी, यह सवाल कोई महत्त्व नहीं रखता। पूँजी में से कौन-सा जीवनोपयोगी द्रव्य निर्माण हो सकेगा, इसका महत्त्व हैं। जीवन की रक्षा के लिए कौन-सा उपयोगी कार्य उस द्रव्य द्वारा हो सकेगा? इसका उत्तर नकारात्मक हो तो उसका पुनर्निर्माण व्यर्थ होगा और यदि उपयोगी वस्तु की अपेक्षा उससे हानिकर वस्तु तैयार होती हो, तो पूँजी का पुनर्निर्माण और भी हीन बात होगी। ऐसी पूँजी से, जो मुनाफा मिलेगा, उसे मुनाफा कहना ठीक नहीं है। यह तो अपनी जायदाद रेहन रखकर साक्षात् प्रतिशोध से कर्ज लेने जैसी ही बात होगी। पानी का उद्‌गम बादल में है, उसी तरह संपत्ति का उद्‌गम-स्थान पूँजी है। लेकिन जब बादल जलहीन रहते हैं और एक बादल दूसरे को केवल जन्म ही देता है तब गड़गड़ाहट के सिवा और कुछ हाथ नहीं आता एवं जमीन पर फसल के बदले केवल बिजली आ पड़ती है। पूँजी का यह वास्तविक रूप होने के कारण किसी भी उद्योगप्रिय राष्ट्र में हमेशा दो प्रकार से उत्पादन हुआ करता है। एक में से 'बीज' और दूसरे में से 'अनाज' पैदा होता है, एक का स्थान भूमि है और दूसरे का मुँह। तोभी जन गोदाम में भर रखने में इनकी सार्थकता मानते हैं। लेकिन गोदाम का उपयोग एक दरमियानी बात है। उसका काम सिर्फ संधिकाल में हिफाजत करना है; लेकिन जब अनाज बाँटा जायगा तभी उसका उद्देश्य सफल होगा। ऐसा न हो तो अनाज सड़ जायगा और वह चूहे-कीड़े आदि की खाद्यवस्तु बन जायगा। उसी तरह जमीन में बोये जानेवाले बीज का अंतिम रूप अनाज है, जो मनुष्य के खाने की वस्तु है। तो यह स्पष्ट है कि सभी तरह के उत्पादन का उद्देश्य उपभोग

के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। उत्पादन का अंतिम ध्येय उपभोग होने से कितने लोग अनाज पाते हैं, इसे देखकर ही उसका मूल्य आँकना ठीक होगा। राष्ट्र की संपत्ति का अनुमान करने के लिए यह देखना पड़ेगा कि वह राष्ट्र कितनी वस्तुओं का उपयोग करता है।

इसलिए जीवन के अतिरिक्त दूसरी संपत्ति का कोई मूल्य नहीं है। 'जीवन' शब्द में प्रेम, आनंद, कौतुक इत्यादि सभी शक्तियों का अन्तर्भाव किया गया है। जिस देश में उदार एवं सुखी मनुष्यों की अधिक-से-अधिक संख्या होगी, वह देश समृद्ध समझा जायगा। उसी तरह जीवन की सब शक्तियों का जिस मनुष्य में पूरा-पूरा विकास हुआ है तथा शील एवं संपत्ति द्वारा जो अन्य जनों की उन्नति में सहायक होता है, वह मनुष्य वास्तव में अमीर कहलाने योग्य है।

वर्तमान समय भोग-विलास का नहीं है। हरएक को अपनी शक्ति भर मेहनत करनी चाहिए। एक मनुष्य के आलसी बनने से दूसरे को दुगुना काम करना पड़ता है। इंग्लैंड में आज जो बेकारी दिखायी देती है, उसका यही कारण है। बहुतों के पास धन रहने पर भी वे उपयोगी काम नहीं करते। फलतः दूसरे लोगों को उनके लिए काम करना पड़ता है। लेकिन ऐसे श्रम का कोई उपयोग न होने से श्रमियों को उससे लाभ नहीं होता। उससे राष्ट्र की संपत्ति घटती है। इसके अलावा असंतोष एवं असूया बढ़ती है। अंततः, अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर, इनमें संघर्ष बढ़ता है और परिणामतः उसकी आग में साक्षात् मानवता भस्म हो जाती है। ◆◆◆

बाइबल की कथा

रस्किन ने अपनी पुस्तक का 'अन्टु दिस् लास्ट' ('इस आखिरवाले को भी') जो नाम रखा है, उसका आधार बाइबल में दी गयी एक कथा है, जो इस प्रकार है :—

एक आदमी ने कुछ मजदूरों को एक पेनी की रोजी पर अपने अंगूर के बाग में काम करने भेजा। जब दोपहर के समय वह मजदूरों के अड्डे पर गया तो कुछ और लोगों को भी वहाँ खड़ा पाया। उसने उन्हें भी अपने बगीचे में काम पर बुलाकर उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। तीसरे पहर जब वह फिर से वहाँ गया तो उसने फिर कुछ बेकार मजदूरों को देखा। उन्हें भी वह बगीचे में ले गया। शाम को जब वह मजदूरों के अड्डे पर पहुँचा, तब भी वही दृश्य उसे दिखायी पड़ा। तब उसने मजदूरों से कहा, "तुम लोग यहाँ बेकार क्यों बैठे हो ?"

मजदूरों ने जवाब दिया, "इसलिए कि हमें किसी ने काम पर नहीं लगाया।" उस आदमी ने कहा, "तुम लोग भी मेरे बाग में काम करने चलो। तुम्हें मुनासिब मजदूरी दी जायगी।"

रात होने के बाद बगीचे के मालिक ने मुनीम से कहा, "सब मजदूरों को बुलाकर मजदूरी दे दो। सबसे पीछे आये हुए आदमी से शुरू करो।" जो लोग आखिर में आये थे, उन्हें भी एक पेनी मिली। पहले से आये हुए मजदूरों को ऐसा लगा कि उन्हें ज्यादा मजदूरी दी जायेगी। लेकिन उन्हें भी एक पेनी दी गयी। इस पर उनमें कानाफूसी शुरू हुई। अन्त में उन्होंने मालिक से कहा, "जो लोग आखिर में आये, उन्होंने सिर्फ एक घंटा काम किया। मगर हम दिन भर धूप में काम करते रहे, फिर भी हमें उन्हीं के बराबर मजदूरी दी गयी है।"

बाग का मालिक बोला, "मैंने तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया। एक पेनी की रोजी पर काम करना तुम्हें कबूल ही था। जितना उचित था, वह तुमने पाया है। अब घर जाओ। तुम्हें जितना दिया, ठीक उतना ही अन्त में आनेवाले को भी दूँगा। जो चीज मेरी है, उसका उपयोग अपनी इच्छा के मुताबिक करने के लिए क्या मैं स्वतंत्र नहीं हूँ? मैंने अच्छा वर्ताव किया, इसका तुम्हें क्यों दुःख हो रहा है? प्रथम व्यक्ति अंतिम होगा और अंतिम व्यक्ति प्रथम होगा, क्योंकि बहुत लोगों को बुलाने पर भी उनमें से थोड़े ही लोग चुने जायेंगे।"

(St. Mathews, ch. 20)

: ८ :

गांधीजी का त्रि-सूत्री सार

◆

गांधीजी के अनुसार रस्किन ने अपनी 'अन्टु दिस् लास्ट' पुस्तक में तीन मुख्य बातें कही हैं। वे इस प्रकार हैं :

१—व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित होता है।

२—वकील के काम की कीमत भी नाई के काम की कीमत के समान ही है, क्योंकि हरएक को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

३—मजदूर का याने किसान का अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

◆

सर्वोदय का शास्त्र

गीता में कहा गया है कि सर्वत्र और सबमें बसे हुए ईश्वर की स्वकर्म-सुमनों से यदि पूजा की जाय, तो वह संतुष्ट होकर मनुष्य को सिद्धि देता है। इसका अर्थ यह है कि विशिष्ट हेतु और वृत्तिपूर्वक किये हुए सब प्रकार के कर्मों का आध्यात्मिक मूल्य समान ही है। मनुष्य समाज में ही जन्मता है, समाज में ही रहता है और समाज में ही मरता है। उसका पालन-पोषण, जीवन-विकास और सार्थकता भी समाज में ही सिद्ध होती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि उसके कार्य-कलापों का हेतु समाज-सेवा, समाज-धारणा और समाज-समृद्धि ही होना चाहिए और इस हेतु से किये जानेवाले सब प्रकार के कर्मों का सामाजिक और आर्थिक मूल्य भी समान ही होना चाहिए। सर्वोदय में इस विषय में दो मौलिक विचार प्रधान माने जायेंगे। हरएक व्यक्ति को काम देना समाज का फर्ज है और काम का प्रकार या स्वरूप कोई भी हो, व्यक्ति यदि उसे ईमानदारी से करता है तो उसकी जो जरूरतें हैं उनकी पूर्ति समाज करेगा। लेकिन खेद की बात है कि आज समाज में ऐसा न्याय और नीतिपूर्ण व्यवहार दिखाई नहीं पड़ता।

समाज में जैसे सब मनुष्य समान नहीं होते, वैसे ही सब काम

भी एक-से नहीं होते। किसीके पास शरीरबल अधिक होता है, तो किसीके पास बुद्धिबल। वैसे ही कुछ काम मुख्यतः बुद्धि-बल के होते हैं, तो कुछ शरीर-बल के। समाज के स्वास्थ्य के लिए भगी, उसके पोषण के लिए किसान तथा मजदूर, समाज-शिक्षण के लिए शिक्षक और समाज में शांति तथा सुव्यवस्था रखने के लिए अधिकारीगण अपना-अपना काम करेंगे। परतु इन कामों के प्रकार भिन्न-भिन्न होने पर भी समाज के शारीरिक और मानसिक आरोग्य के लिए उन सबकी समान आवश्यकताएँ होने के कारण उनमें से प्रत्येक के काम की प्रतिष्ठा समाज में समान ही समझनी चाहिए और उन काम करनेवालों में से प्रत्येक को अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन-सामग्री भी मिलनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक काम का सामाजिक और आर्थिक मूल्य समान ही होना चाहिए। किन्तु आज समाज में भगी-काम मत्री के काम की तुलना में नीच समझा जाता है एव मत्री का काम श्रेष्ठ। इन दोनों कार्यों का आर्थिक मूल्य भी एकदम भिन्न ही आँका जाता है। आम तौर पर माना जाता है कि मत्री के कार्य में जैसी बुद्धि लगती है, वैसी भगी के काम में नहीं लगती। पर लोगों को इस बात की बिल्कुल कल्पना नहीं है कि उच्च हेतु से प्रेरित होकर काम करने के लिए अथवा अनासक्त वृत्ति से काम करने के लिए श्रेष्ठ दर्जे की बुद्धि और धृति की आवश्यकता होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति जब ऐसे उच्च हेतु से प्रेरित होकर अनासक्त वृत्ति से समाज का अपना काम करेगा, तभी समाज की धारणा और समृद्धि होगी और समाज के विभिन्न व्यक्तियों को अपनी नैसर्गिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए जरूरी साधन तथा निजी विकास का अवसर मिलेगा, तभी समाज में

सुख-शांति फैलेगी. यह बात सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट है। लेकिन आज समाज में व्यक्ति के काम की कीमत उसके पीछे रहे हुए हेतु और वृत्ति पर से तय नहीं की जाती, बल्कि उस काम में शरीरश्रम और बौद्धिक श्रम कितना लगता है इसी पर से निश्चित की जाती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि काम का आध्यात्मिक और नैतिक स्तर गिर गया और अर्थ को यानी पैसे को अनर्थकारी पद प्राप्त हो गया है तथा समाज पर एक विकट प्रसंग आ पड़ा है।

प्रत्येक वस्तु का पैसे की माप से मूल्याङ्कन करना औद्योगिक अथवा पूँजीवादी समाज का मुख्य लक्षण है। पाश्चात्य औद्योगिक और आर्थिक शास्त्र केवल धन-निर्माण करने का शास्त्र है। इसी प्रकार स्पर्धा भी पूँजीवादी समाज का प्राण है। शरीर-श्रम और बुद्धि की स्पर्धा में बुद्धि की बाजारू कीमत अधिक लगना एक प्रकार से अपरिहार्य ही है और जब तक यह वस्तुस्थिति कायम है, तब तक समाज की आर्थिक विषमता का नाश होना भी असंभव है। इतना ही नहीं, श्रम की सच्ची प्रतिष्ठा कायम करना भी अशक्य ही है। आज शरीर-श्रम करना हीनता अतएव अप्रतिष्ठा का लक्षण माना जाता है। लोग मजबूरी से मेहनत करते हैं। प्रेम से कोई मेहनत नहीं करता। शरीरजीवी और बुद्धिजीवी लोगों में सतत संघर्ष चल रहा है। पूँजीवाद का यह कुलक्षण जब तक नष्ट नहीं हो जाता, तब तक संघर्ष अटल है।

प्रश्न यह है कि निष्काम बुद्धि से और समाजहित की दृष्टि से जो बौद्धिक या शारीरिक श्रम किया गया है, उसका मूल्याङ्कन रुपये-आने-पाई में करना कैसे संभव है? जहाँ दो वस्तुओं में किसी भी प्रकार

का समान गुण-धर्म नहीं, वहाँ कोई एक-दूसरे का मूल्य अथवा माप कैसे बन सकता है? निसर्गतः सोने-चाँदी में और उससे खरीदी जानेवाली वस्तुओं में ऐसा कोई भी समान धर्म नहीं कि जिसके कारण कोई एक-दूसरे की कीमत या माप बन सकेगी। सारा ही खेल कल्पना का है। अब तो सोने-चाँदी का भी प्रश्न नहीं रहा है। बाजार में केवल कागज के टुकड़ों की भरमार है। ऐसी वस्तुस्थिति होने के कारण आज किसीके भी लिए कानून का पालन करके या उसका भग करके भी धन का अपहरण करने की सभावना उत्पन्न हो गयी है।

इसका एक परिणाम यह हुआ है कि आज कोई भी व्यक्ति सामाजिक उपयुक्तता के लिए वस्तु का निर्माण नहीं करता, बल्कि केवल बाजार में बेचने के लिए ही निर्माण करता है। इसके फलस्वरूप किसी भी निर्माता की, फिर वह शरीरजीवी हो या बुद्धिजीवी, समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं रही, क्योंकि बुद्धिजीवी भी अपनी बुद्धि और ज्ञान का विक्रय ही करता है। स्पर्धा के बाजार में शारीरिक श्रम की अपेक्षा बुद्धि की रुपये-आने-पाई के रूप में अधिक कीमत आये तो वह भी खरीदी जा सकती है। इस परिस्थिति के कारण आज के समाज में केवल अर्थ को न सिर्फ प्रतिष्ठा ही प्राप्त हुई है, बल्कि अर्थ ही आदमी का देव बन गया है। जब मनुष्य और उसका सब प्रकार का श्रम अप्रतिष्ठित बन जाता है और वह स्वयं ही दूसरे का दास बन जाता है, तब उसके विनाश में कितनी देर लगेगी?

शरीरश्रम की अपेक्षा बुद्धि का आर्थिक मूल्य अधिक निश्चित होने से उसका तात्कालिक दुष्परिणाम यह होता है कि उत्पादन बढ़ाकर देश को समृद्ध करना कठिन हो जाता है। आज हमारे देश में

'उत्पादन बढ़ाओ' का कुहराम छोटे-बड़े सब मचाते हैं, फिर भी उत्पादन जितना चाहिए उतना नहीं बढ़ता, इसका भी यही कारण है। शरीरश्रम का मूल्य कम आँककर उसकी प्रतिष्ठा एक ओर कम करना और दूसरी ओर 'उत्पादन बढ़ाओ' कहने का अर्थ है, प्रवाह की उल्टी दिशा में तैरने का प्रयत्न करना।

लोगों की उद्योगशीलता बढ़े, देश समृद्ध हो और समाज की सब प्रकार की विषमताएँ नष्ट होकर शोषण एकदम रुक जाय, ऐसी हमारी आकांक्षा हो तो हमें प्रामाणिक रूप से किये हुए सब प्रकार के श्रम की प्रतिष्ठा समान समझकर उसके आर्थिक मूल्य को भी समान ही बनाना होगा। इसी प्रकार किसी भी तरह के श्रम से होनेवाला उत्पादन उसकी उपयुक्तता के लिए होना चाहिए, न कि बाजार में विक्रय के लिए, जो कि सर्वथा अनुचित है। इसका परिणाम बाजार बंद होने में ही होगा। पर इस काम में बुद्धिजीवी लोगों का नेतृत्व करना आवश्यक है।

आर्थिक पूँजीवाद की अपेक्षा बौद्धिक पूँजीवाद अधिक भयावह है, क्योंकि दूसरा सूक्ष्म है और उसे भौतिक सृष्टि का सहारा है। प्राचीन ऋषियों ने और ब्राह्मणों ने यानी बुद्धिजीवी लोगों ने ऐसा विधान बना दिया था कि वे बुद्धि का विक्रय न करें और अस्तेय और अपरिग्रह का व्रत लें। इसमें उनकी दीर्घ दृष्टि का प्रमाण मिलता है। सर्वप्रथम बुद्धिमान वर्ग को अपनी बुद्धि का विक्रय करना छोड़ देना चाहिए।

मानव-समाज में विषमता (उच्चता और नीचता की भावना पर निजी और सामाजिक व्यवहार होना) और शोषण (श्रम करनेवाले

के पल्ले में उसके श्रम का पूरा फल न डालते हुए उसमें से कुछ निकाल लेना और उसका सचय करके उससे सपत्ति निर्माण करना) कैसे और कब शुरू हुआ, इस सबंध में अनेक मत हो सकते हैं और वे हैं भी। प्रारंभ में वर्ण भी एक ही था, ऐसा उपनिषदों में वर्णन है। जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे वर्ण भी बढ़ते गये। चार वर्ण 'गुण-कर्मविभागशः' ईश्वर ने निर्माण किये और जो निष्ठापूर्वक स्वकर्म करता है, उसे सिद्धि मिलती है, ऐसा गीता में कहा गया है। कम नाना प्रकार के हों तो भी उनमें श्रेष्ठ और कनिष्ठ ऐसा कोई भेद नहीं, यह बात यहाँ स्वीकार की गयी है। परंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वीकार की हुई कर्म की यह समता जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी अमल में लानी चाहिए थी, जो कि दुर्भाग्य से नहीं लायी गयी। गीता के इस आश्वासन का स्मरण व्यवहार में लोगों को बिल्कुल नहीं रहा कि ब्राह्मण और क्षत्रियों की तरह स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी सद्गति पाते हैं। उल्टे, ब्राह्मण और क्षत्रिय पुण्यात्मा हैं और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र 'पापयोनि' हैं, ऐसा जो श्रीकृष्ण ने कहा है, वही केवल लोगों ने बखूबी ध्यान में रख लिया। सद्गति परलोक में ही रही; लेकिन पापयोनि इहलोक के व्यवहार में सदा के लिए चिपक गयी। जो पुण्यात्मा हैं, उनका कर्म पवित्र है और इसलिए वे श्रेष्ठ हैं और जो पापयोनि हैं, उनका कर्म अपवित्र है, इसलिए वे कनिष्ठ हैं, ऐसी मान्यता स्वाभाविक रूप में सर्वत्र फैल गयी। जो कर्म श्रेष्ठ है, उसे तो ज्यादा दाम और जो कनिष्ठ है, उसे थोडा-सा छदाम। यह न्याय समाज में रूढ़ हो गया और इस ऊँच-नीच भावना में से ही सामाजिक विषमता और आर्थिक शोषण का जन्म हुआ। इस विषमता और शोषण में से निर्माण होनेवाले संघर्ष और उसके कारण होनेवाले

सर्वनाश से मानवजाति का रक्षण करना हो तो आध्यात्मिक क्षेत्र की कर्म की यह समता भौतिक क्षेत्र में भी मान्य होकर उसका अमल होना चाहिए।

ईश्वर से मनुष्य को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (इन्द्रियाणि दशैकं च) मिली हैं। देखने के लिए आँखों का, सुनने के लिए कानों का, चलने के लिए पैरों का और काम के लिए हाथों का उपयोग किया जाय, यही संकेत इसमें स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। मनुष्य को भूख लगती है और उसे मिटाने के लिए उसे अन्न की जरूरत होती है। अन्न पैदा करने के लिए जो श्रम करना पड़ता है, वह स्वयं उसीको करना चाहिए। यह बिल्कुल स्वाभाविक है और न्याय्य भी है। दूसरे ने श्रम नहीं किया तो स्वयं मनुष्य को श्रम किये बिना चारा नहीं। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो उसे मृत्यु को स्वीकार करना होगा। इसलिए प्रकृति का यह नियम ही समझना चाहिए कि मनुष्य स्वयं श्रम करके अन्न पैदा करे। यह कहने की जरूरत नहीं कि मनुष्य के हाथ से इस नियम का जितना उल्लंघन होगा, उतनी ही उसे सजा भुगतनी होगी। पशु-पक्षियों को अपने अन्न के लिए स्वयं श्रम करना पड़ता है; लेकिन पशु-पक्षियों का यह स्वभावधर्म ही है कि प्रकृति जितना देती है, उतने में अपनी उपजीविका चला ली जाय; इसलिए उस योनि में 'मत्स्य न्याय' होने पर भी शोषण-पद्धति नहीं चलती। प्राथमिक अवस्था में मनुष्य की स्थिति भी करीब-करीब ऐसी ही थी। लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य ने अपनी स्थिति में सुधार किया। केवल प्रकृति की ही देन पर संतुष्ट न रहकर उसने अपने आहार-विहार के लिए उत्पादन शुरू किया। वह अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाने लगा और आज 'आवश्यकताएँ बढ़ाना' यानी

'रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करना' ऐसा कहा जाता है। इसीको सुधार का मुख्य लक्षण माना जाने लगा है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगनेवाली वस्तुएँ निसर्ग से प्राप्त करने के लिए मनुष्य को उससे झगड़ना पड़ता है। इस काम के लिए मनुष्य ने धीरे-धीरे औजारों और यन्त्रों की शोध लगाने के लिए जैसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग किया वैसे ही उनको चलाने के लिए कर्मेन्द्रियों का भी उपयोग किया होता तो शोषण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। लेकिन औजारों और यन्त्रों के निर्माण और उपयोग के लिए मनुष्य को दूसरे मनुष्यों की मदद लेने की आवश्यकता हुई। यदि दूसरे लोगों की मदद मनुष्य ने समता पर आधारित सहकारी तत्त्व से ली होती, तो भी शोषण का पाप उसके हाथ से न हुआ होता। सामान्य किसान के कुटुम्ब के व्यक्ति खेत पर और घर में विभिन्न काम करने के लिए पारस्परिक सहायता से प्रयत्न करते हैं और उससे होनेवाले उत्पादन का अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग करते हैं, यह तो हम आज भी देखते हैं। यहाँ एक-दूसरे की मदद की जाती है, लेकिन सहकार के तत्त्व पर और परिवार के सब लोगों के कल्याण की दृष्टि से। इसलिए यहाँ कोई किसीका शोषण नहीं करता।

पर जैसे-जैसे मानवीय परिवार बड़ा होता गया, वैसे-वैसे उसमें से आत्मीय भाव कम होता गया और पारस्परिक व्यवहार में सद्भावना और स्नेह का स्थान स्वार्थ और लोभ ने लेना शुरू कर दिया। यद्यपि एक परिवार में तो स्नेह और सहकार्य टिक गये, तथापि भिन्न-भिन्न परिवारों में स्वार्थ और स्पर्धा शुरू हो गयी। एक-दूसरे को मदद करने की जरूरत तो हमेशा ही रही, किन्तु उसका आधार सहकार न रहकर मालिक-मजदूर, स्वामी-सेवक का भाव रहा। हमारे अन्न के लिए

अर्थात जीवन को लगनेवाली वस्तुओं के लिए स्वयं श्रम न करके दूसरे को मजदूर बनाकर उससे श्रम लेने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी और उसमें से शोषण और विषमता पैदा हुई।

जब तक मनुष्य अपने निर्माण किये हुए औजारों और यंत्रों को हाथ से चलाता था तब तक समाज में बड़े परिमाण में शोषण की उतनी गुंजाइश न थी, लेकिन जब जल, वायु, भाप और विद्युत से निर्माण होनेवाली शक्तियों का उपयोग उत्पादन में करना मनुष्य ने शुरू किया, तब उत्पादन बहुत बढ़ गया तथा उसके कारण संपत्ति का केन्द्रीकरण होकर बहुत बड़े पैमाने पर शोषण शुरू हो गया। वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्य केवल अपने श्रम से बहुत थोड़ी संपत्ति निर्माण कर सकता है। अपने जीवन-धारण के लिए और विकास के लिए उतनी संपत्ति का ही उसने उपयोग किया होता, तो सुधार और तथाकथित संस्कृति की जो मंजिल उसने आज तक तय की है, वह कदापि नहीं की होती। मनुष्य की आज जो उन्नतावस्था है, उसका कारण यही है कि भूत और वर्तमान काल के समाज की, अपने श्रम से पैदा की हुई संपत्ति का, वह वारिस और भोक्ता होता है। सारी संपत्ति समाज की है, ऐसी वस्तुस्थिति होने के कारण सबके सहकार से निर्मित संपत्ति को जब मनुष्य अपनी बनाकर उसका भोग करना चाहता है, तब शोषण शुरू होता है और उसका परिणाम संघर्ष में आता है। जहाँ संघर्ष है, वहाँ नाश निश्चित है। इसलिए यह संघर्ष और नाश टालना हो, तो जो संपत्ति सबके सहकार्य से उत्पन्न हुई है, वह सबकी है और उसका उपभोग करने का सबको समान हक है,

यह तत्त्व स्वीकार होना चाहिए। अर्थात् निजी सम्पत्ति (उत्पादन के साधन) और सचय दोनों ही बद होने चाहिए।

आज समाज की सत्ता और साधन इतने प्रचड और संकीर्ण हो गये हैं कि सामान्य मनुष्य के लिए उनके पारस्परिक सवध और व्यवहार को समझना कठिन हो गया है। उनके बारे में मनुष्यों के मनों में भावना और तज्जन्य सहसवेदना बिल्कुल नष्ट हो गयी है और उसका सामाजिक व्यवहार मनुष्य समझकर न चलकर यंत्र की तरह चलता है। उनकी चेतना लुप्त हो गयी है और उसकी जगह जड़वाद ने ले ली है। सामाजिक व्यवहार की इस जडता ने मनुष्य की भावना और सुख-दुख सबंधी सहसवेदना-शक्ति नष्ट कर दी है। आज ससार के सामने यही प्रश्न उपस्थित है कि मानवीय व्यवहार की यह चेतना और परस्पर के सुख-दुख के बारे में उत्कटता और चिन्ता फिर से कैसे निर्माण की जा सकती है? जब यह प्रश्न हल होगा, तभी संघर्ष का स्थान सहकार्य और सत्ता का स्थान सेवा लेगी; और सबका विनाश रुककर विकास होगा।

प्रेम और स्नेह की भावनाओं का आधार वैयक्तिक सबध है। स्नेह अथवा बधु-भावना छोटे-छोटे समूहों में से ही व्यक्त हो सकती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि छोटा समूह होने से उसमें अपने आप निश्चित रूप से स्नेह-भावना निर्माण होगी ही। छोटे समाज में उसका निर्माण होना सभव होता है, इतना ही उसका अर्थ है। केवल बुद्धि से या भावना से 'सारा विश्व अपना है और हम उसके हैं', ऐसा अनुभव करके उसके साथ प्रेम का व्यवहार करना हजारों में एकाध के लिए ही संभव होता है। सर्वसाधारण मनुष्य उतना ही

समझ सकता है, जितना कि व्यक्त या प्रत्यक्ष होता है और उसी पर प्रेम कर सकता है। जो अव्यक्त की इच्छा रखता है उसे बहुत क्लेश होता है। बड़े एवं विशाल समाज का सब प्रकार का व्यवहार सामान्य व्यक्ति के लिए अव्यक्त ही है और इसीलिए वह उस व्यवहार को न तो समझ सकता है, न उसके साथ समझ-बूझकर प्रेम का संबंध ही रख सकता है। सामान्य मनुष्य का सामाजिक व्यवहार प्रेम और स्नेहपूर्ण बने, इसलिए जिसमें उसको सतत रहना है, वह समूह यथा-शक्य छोटा ही होना चाहिए। अर्थात् संपूर्ण सामाजिक व्यवहारों का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

साधारण मनुष्य के रोज के सामाजिक जीवन का घेरा एक बार छोटा हो जाय तो फिर धनोत्पादन के साधन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण अपने आप होगा और मुट्ठी भर लोगों के हाथ में शोषण के जो साधन हैं, उनका वर्तमान स्वरूप भी नष्ट हो जायगा।

मनुष्य की जो प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी उचित रीति से पूर्ति होने पर ही उसके मन को शान्ति और समाधान प्राप्त होते हैं। उसके बाद में ही, जो मानवीय श्रेष्ठ मूल्य हैं, उनकी ओर मनुष्य की सारी शक्तियों का प्रवाह मुड़ेगा और सच्चे अर्थ में उसे स्वतंत्रता या स्वराज्य प्राप्त होगा।

अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य का किसी हद तक यंत्रों की मदद लेना जरूरी भी है। हाँ, ऐसा करते समय 'आराम' और 'ऐशोआराम' तथा 'सुख' और 'विलास' के भेद को ध्यान में रखकर मनुष्य को 'ऐशोआराम' और 'विलास' की लालसा छोड़नी चाहिए। अगर वह ऐसा नहीं करेगा, तो उसे शरीर का गुलाम

और यत्र का नौकर बनकर सच्चे अर्थ में विकास या उदय से हाथ धोना पड़ेगा।

व्यक्ति की और छोटे-छोटे जन-समूहों की उत्पादन शक्ति जिसके द्वारा बढ़े, ऐसे यत्रों का उपयोग उसे करना चाहिए, लेकिन जिनके कारण बेकारी बढ़ती है या मनुष्य जिनके गुलाम बनते हैं अथवा जिनके कारण मनुष्यों का शोषण होता है, ऐसे यत्र उपयोग में कतई न लाये जायँ। इन यत्रों को चलाने के लिए मनुष्य की जो नैसर्गिक शक्ति है, उसके अलावा निसर्ग की दूसरी कोई भी शक्ति जहाँ उपयोग में लेनी हो, वहाँ उसका उपयोग प्रत्येक व्यक्ति या छोटा समूह भी कर सके ऐसा उसका स्वरूप होना चाहिए। ऐसे यंत्र और शक्ति निर्माण करने के लिए जो बड़े-बड़े कारखाने और बड़ेबड़े केन्द्र अपरिहार्य होंगे, वे भी समूह या समाज की मालिकी के हों। ऐसी उत्पादन-पद्धति से जो सपत्ति उत्पन्न होगी, वह शारीरिक स्वास्थ्य और सुख के लिए पर्याप्त होगी, बल्कि मनुष्य के लिए जो भोग्य सपत्ति की आवश्यकता है, उसकी यही स्वाभाविक मर्यादा मनुष्य को माननी चाहिए और अपनी शेष शक्ति अपने आत्मविकास या उदय में लगानी चाहिए।

जब विकेंद्रीकरण सामाजिक जीवन का आधारभूत तत्त्व बन जायगा और यत्रों तथा उत्पादन पद्धति का स्वरूप और व्यवस्था ऊपर कहे मुताबिक बदल जायगी, तब सत्ता का वर्तमान स्वरूप, जो कि शोषण का साधन है, नष्ट हो जायगा। ऊपर कहा ही गया है कि जैसे-जैसे मानवीय कुटुम्ब बड़ा होता गया वैसे-वैसे मनुष्य के व्यवहार में आत्मीयता कम होती गयी और स्नेह और सहकार्य नष्ट होता गया

तथा स्वार्थ और शोषण बढ़ता गया। यह शोषण बाकायदा और शांति से चलता रहे ऐसी व्यवस्था और बंदोबस्त करना बढ़ती हुई सत्ता का बड़ा भारी कार्य बन गया है। यह सच है कि इस शोषण से मुक्त होने के लिए शोषितों ने इस सत्ता का हिंसा से ही प्रतिकार करने का बीच-बीच में प्रयत्न किया और इस तरह उसमें से एक सत्ता के नष्ट होने पर दूसरी सत्ता अस्तित्व में आयी। लेकिन इस कारण शोषण की प्रक्रिया रुकी तो नहीं ही; हाँ, उसका क्षेत्र अपरिमित हो गया और नागरिकों का जीवन संपूर्ण रूप से सत्ता के अधीन बन गया। पर यह तो सेर को सवा सेर के समान या कीचड़ में से एक पाँव निकालने के प्रयत्न में दूसरा भी कीचड़ में अधिक ही फँसा लेने के समान ही बात हुई। इस प्रकार सत्ता की शक्ति बढ़ने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस पर अधिकाधिक अवलंबित रहने लगा। परिणाम यह हुआ कि वह अपने पड़ोसियों और गाँववालों से अधिक-अधिक दूर होता गया। इस दुष्ट-चक्र से अगर मनुष्य मुक्त होना चाहता है तो उसको आत्म-संरक्षण के लिए या समाज-हित-विरोधी व्यक्तियों और शक्तियों का प्रतिकार करने के लिए हिंसा का त्याग करके अहिंसा अथवा अहिंसाधिष्ठित प्रतिकार-साधनों और पद्धति का अवलंबन लेना सीखना चाहिए, क्योंकि लोक-जीवन पर सब प्रकार का नियंत्रण करने की अपनी नीति का, सत्ता का—फिर वह सर्वंकष हो या लोकशाही—अंतिम समर्थन जनता के आंतर-विद्रोह में या परचक्र से रक्षण करने की क्षमता में ही है।

शारीरिक और बौद्धिक गुणों में और सामर्थ्य में व्यक्ति-व्यक्ति में

कितना ही भेद हो, तो भी सब मनुष्य समान और एक हैं। यह एक नैतिक तत्त्व या सत्य है जिसकी अनुभूति हर मनुष्य को अपने नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में ही हो सकती है। इसीलिए मनुष्य का शारीरिक और बौद्धिक जीवन उसके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन से अविरोधी होनी चाहिए। इतना ही नहीं, उसके जीवन की प्रेरणा नैतिक और आध्यात्मिक ही होनी चाहिए। समाज में ही व्यक्ति का विकास होता है, इसलिए व्यक्ति की वासना और समाज की धारणा का द्वन्द्व जिस तत्त्व के कारण मिटता है, उस तत्त्व को ही धर्म कहना चाहिए। शुरू-शुरू में एक ही वर्ण था, लेकिन जैसे-जैसे काम बढ़ता गया, वैसे-वैसे ईश्वर ने 'गुणकर्मविभागशः' चार वर्णों की रचना की, ऐसा उपनिषद् में वर्णन है। उन्हीं उपनिषदों में लिखा है कि यद्यपि ब्रह्मा ने चार वर्णों की रचना की, फिर भी वे सब कर्म करने में असमर्थ रहे। इसलिए ब्रह्मा ने श्रेयोरूप धर्म स्थापित किया। यह धर्म क्षत्रियों का भी नियता है। इसलिए धर्म से अधिक श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु नहीं हो सकती। इस धर्म के योग से निर्बल भी सबल को जीतने की आशा रखता है। यह सर्वशक्तिमान धर्म ही सत्य है। इसलिए जब कोई सत्य बोलता है तो कहा जाता है कि 'धर्म बोल रहा है।' और जब कोई धर्म बोलता है तो कहते हैं, 'सत्य बोल रहा है।' दोनों प्रकार का यह धर्म एक ही है। इस धर्म या सत्य का यही अर्थ है कि विभिन्न प्राणियों में एक ही आत्म-तत्त्व यानी 'मैं' व्याप्त है, ऐसा समझा जाय और तदनुसार आचरण किया जाय। 'अविभक्तं विभक्तेषु।' इसी सत्यधर्म का दूसरा नाम प्रेमधर्म या अहिंसा धर्म है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच का व्यवहार प्रेम या अहिंसा से चलेगा यानी मनुष्य अपने पड़ोसी के सुख-दुःख में अपने को सहभागी

मानेगा—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन', और सबके कल्याण में ही अपना कल्याण समझकर 'यही श्रेय है' ऐसा वह मानने लगेगा; तभी सत्यधर्म का पालन होगा और उसकी प्रस्थापना होगी।

बढ़ती हुई संगठन-कुशलता और यंत्र-विज्ञान के जोर पर मनुष्य ने अपना भौतिक बल चाहे जितना बढ़ा लिया हो, तब भी उसका वह सामर्थ्य अल्प ही है और इसीलिए इसकी सहायता से पृथ्वी पर सत्यधर्म की पताका फहराकर यहाँ समता और शांति का साम्राज्य स्थापित करना उसके लिए संभव नहीं है, क्योंकि जब 'सत्य' पाशवी शक्ति का सहारा लेता है, तब वह दुर्बल और तिरस्कृत होता रहता है। उल्टे, मनुष्य का शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य कितना भी मर्यादित हो, तो भी उसका आध्यात्मिक सामर्थ्य अमर्यादित या अनंत है। यदि वह अपने इस सामर्थ्य का उपयोग वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार में करे तो सामाजिक संघर्ष नष्ट करके सामाजिक सहयोग पर आधारित समता की स्थापना करना उसके लिए संभव और सुगम होगा।

प्रेम-शक्ति एक प्रचंड शक्ति है। इस प्रेमशक्ति में अनत्याचारी असहकार और सत्याग्रह अंतर्भूत होता है। इस प्रेम-शक्ति के बल पर समाज के विरोधी व्यक्ति या समूह का प्रतिकार किया जाय तो उनका विरोध नष्ट हो जायगा और समाज में सहकार बढ़ेगा तथा वह संगठित भी होगा। समाज-रचना इतनी विकेंद्रित होनी चाहिए कि मनुष्य को प्रेम-शक्ति विकसित करने का पूरा मौका मिले। इस प्रकार विकेंद्रित समाज में सर्वोदय के तत्त्वों को व्यवहार में लाया जाय तो 'एक विश्व' की कल्पना साकार हो सकेगी।

सर्वोदय के दो नियम

......एक सादी बात हम समझ लेंगे, तो सबका हित सधेगा। हरएक दूसरे की फिक्र रखे, साथ ही अपनी फिक्र ऐसी न रखे कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। इसी को सर्वोदय कहते हैं।

सर्वोदय का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है और उसीसे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए, हमारा भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। हमें अपनी कमाई का तो खाना चाहिए, लेकिन यदि हम दूसरे का धन किसी तरह से ले लें, तो उसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है : प्रत्यक्ष पैदाइश।

ये दो नियम हम अपना लें, तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।

—विनोबा